श्रीज्ञानेश्वरी

हिन्दी में ओवीबद्ध

श्रीज्ञानेश्वरी

अर्थात्

सन्तशिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर-प्रणीत

श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका

द्वितीय अध्याय

विमलवाणी में प्रतिध्वनित

[श्र० विमलाजी के प्रवचनों का—सारसङ्कलन]

सङ्कलन-सम्पादन—डॉ. ऊर्मिला शर्मा

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

©

प्रकाशक :

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

कृष्णकुटी, 5 थियोसॉफ़िकल हाउ० सोसाइटी

नवरंगपुरा, अहमदाबाद-9

VIMAL
PRAKASHAN TRUST
'Vimal Saurabh'
Vaniya Wadi Street No. 9,
Rajkot-360 002. (Guj.)
Mob. : 99255 29096
98254 16769
E-mail : vimalprakashantrust@yahoo.com

Books available at:

VIMAL PRAKASHAN TRUST
"SANTKRUTA"
103. 1st FLOOR, RATNAM TOWER,
B/H. CHIEF JUSTICE'S BUNGALOW,
JUDGES BUNGALOW ROAD,
BODAKDEV, AHMEDABAD - 380015.

प्रथम संस्करण-१००० प्रतियाँ

मूल्य : [redacted] रु. मात्र

Rs 20 = 00

मुद्रक :

श्री सुरेन्द्र जे. शाह

पारिजात प्रिन्टरी, २८८/१ राणिप

अहमदाबाद-5

निवेदन

मधुराद्वैतप्रवर्तक सन्तसम्राट् प्रेमेश्वर योगेश्वर श्री ज्ञानेश्वर महाराज की श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका ('श्रीज्ञानेश्वरी'–प्रियनाम से लोक–हृदयरञ्जनी भक्तदुलारी) का पारायणात्मक मधुर व्याख्यान श्रद्धेया विमलाजी के मुख से सुन पाये अनेकों सहृदयों की यह सदभिलाषा बहुधा व्यक्त होती रही कि यह वाणी प्रकाशित रूप में सर्वसुलभ हो। ये पारायण (प्रायः सभी) आबू एवं अहमदाबाद में (एक बारहवाँ अध्याय भावनगर तथा कलकत्ता में भी) हुए थे। कलकत्ता में हुए बारहवें अध्याय के व्याख्यान का मूल हिन्दी में प्रकाशन 'भक्तिभागीरथी' नाम से, कलकत्ता से ही श्रीमती सरलाजी बिरला द्वारा कुछ वर्ष पूर्व हुआ था (जो पुस्तक अब समाप्तप्राय है)। फिर गुजराती भाषा में अनूदित रूप के कुछ अध्यायों (द्वितीय, नवम, द्वादश) का प्रकाशन गत दो वर्षों में यहाँ हुआ। हिन्दी पाठकों की इच्छा व्यक्त हुई थी कि संक्षेप में सभी अध्यायों का व्याख्यानसार उपलब्ध हो। उसी से प्रेरित होकर सर्वप्रथम यह द्वितीय अध्याय का प्रवचन–सार (मूल ध्वनि व अभिव्यक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए) प्रस्तुत है।

इस सङ्कलन में—मूल ज्ञानेश्वरी के प्रवाहानुसारी व्याख्यान से, प्रसङ्गप्राप्त आधुनिक व सामाजिक सन्दर्भ में श्रद्धेया "दीदी" द्वारा अपनी ओर से कहे हुए विषय पर पृथक् विशेष ध्यान दिलाने हेतु उसे बृहत् कोष्ठकों [ ] में रखा गया है। इसी 'विशेष' के प्रतिपाद्य के अनुसार कहीं उसे चालू दो कॉलम में और कभी लम्बी पंक्तियों में रखा गया है। प्रकाशन में जितनी त्रुटियाँ हों वे सम्पादिका की हैं, उनके लिये सभी से सविनय क्षमायाचना है।

इस सारसङ्कलन को गत डेढ़ वर्ष में क्रमिक लेखमाला के रूप में हमारी पत्रिका—**'जीवन परिमल'** में नौ अंशों में दिया गया, साथ–साथ ही उन अंशों की अतिरिक्त प्रतियाँ मुद्रित करा ली गयीं। इन्हें एकत्र समन्वित करके, मूल गीताध्याय-सहित आज यह प्रकाशन सम्पन्न हो रहा है।

श्रीज्ञानेश्वरी — द्वितीय अध्याय के पारायणात्मक इन प्रवचनों की मूल रक्षितध्वनि को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कर्म विमलसत्सङ्गपरिवार के ही डॉ. श्री अमृतभाई कारिआ ने बड़े चाव एवं भाव से किया। उनके इस स्नेहसहयोग का ही श्रेय है कि अभीप्सित सङ्कलन शीघ्र ही प्रकाशित हो सका।

अपार वेदोपनिषत्-सिन्धु को मथ कर निकाला पीयूष नवनीतभोजी गोपाल ने, ग्वाले भी समझ सकें ऐसी सीधी सरल शैली में, अपने सखा–अर्जुन को लक्ष्य बनाकर पूरी मानवजाति के लिये परोसा था। वह युगानुकूल देवभाषा (संस्कृत) में था, और शब्द–बन्दी शास्त्रियों के आग्रह–कारागार में पड़ कर दुर्गम दुरूह हो गया था। उसे पुनः जनसुलभ कराने के लिये गोपालकृष्ण जैसे ही क्रान्तिवीर सन्तहृदयवल्लभ श्रीज्ञानेश्वरमहाराज ने—गोपाललीला के ही सदृशवय (द्वादशवर्ष–किशोरावस्था) में—पण्डितसमाज के सम्मुख ही मानवमात्र को 'लीलया संसार–सन्तरण' का आश्वस्त आमन्त्रण दिया। गोपाल का नवनीत खुले हाथों सबको लुटाया—जनभाषा मराठी में।

१२ वीं शताब्दी का वह गोरस (आठ सौ वर्षों की यात्रा में मानवजाति की ग्रहण-पाचन क्षमता क्षीणतर होती जाने से) समझ पाने वालों के लिये जीवन की रग-रग को तुष्टि-पुष्टि-आनन्द से आप्यायित करने वाला होने पर भी फिर लोकसुलभ न रहा। तब उस रस का आस्वाद-आनन्द अकेले लूटने में अरसिकता अनुभव करने वाले नवनीतहृदय रसिकों के मुख से "ज्ञानोबा माउली" (माँ) स्वयं उमड़ कर स्नेहामृत पिलाने को उद्यत हैं—ऐसा अनुभव श्रोताओं को ज्ञानेश्वरी-पारायण सुनते समय होता था। इन प्रकाशनों द्वारा उस वाणी का कुछ आस्वाद सभी पा सकें—एवं उन तुषारों से प्रत्यक्ष जीवन का कण-कण रसभीना हो जाय—यही प्रार्थना उन रसीले मेघ को निवेदित है।

सविनय प्रणता

ऊर्मिला

ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी,
२७-५-८८

विषयक्रम

विषयवस्तु					पृष्ठसंख्या
१.	श्लोक	१-२	ओवी	१-२०	१-४
२.	"	३-८	"	२१-६८	५-८
३.	"	९-११	"	६९-१०२	९-१२
४.	"	१२-१६	"	१०३-१३२	१३-२०
५.	"	१७-२८	"	१३३-१६४	२१-२८
६.	"	२९-३७	"	१६५-२२४	२९-३६
७.	"	३८-५०	"	२२५-२७७	३७-४४
८.	"	५१-६०	"	२७८-३१४	४५-५२
९.	"	६१-७२	"	३१५-३७५	५३-६२
१०.	श्रीमद्भगवद्गीता—द्वितीय अध्याय मूल				६३-६४

श्रीज्ञानेश्वरी

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका

[अनेक वर्षों से प्रायः प्रतिवर्ष श्रीज्ञानेश्वरी का कोई एक अध्याय लेकर पारायण-अनुष्ठान की रीति से सत्सङ्गी-जिज्ञासु मित्रों के साथ बैठने का क्रम इसीलिये चल रहा है कि जो मराठीभाषी नहीं हैं उनका इस अद्भुत ग्रन्थ से परिचय हो जाय। इस में साधकों के लिये अनमोल सहायक निरूपण आते हैं। साधक जिस-किसी भी पन्थ पर चलता हो, कोई भी मार्ग अपनाया हो, प्रत्येक को इस ग्रन्थ में कोई न कोई मार्गदर्शन मिल ही जाता है, विचार-चिन्तन-सरणी निर्भ्रान्त व स्पष्ट बनती है। अवश्य ही इस ग्रन्थ के पारायण-प्रवचन में श्रीज्ञानेश्वर-महाराज के प्रत्येक शब्द से हमारी सहमति अभिप्रेत नहीं, सामयिक-सामाजिक मर्यादाओं से प्रेरित अंशों-अभिव्यक्तियों-विधानों से अतीत जो सनातन-सार्वभौम-वैश्विक चिन्तन वहाँ शब्दाङ्कित हुआ है उसका स्वाध्याय करते हुए मुझे जो कहना होता है वही इन साधना-सत्रों में कहा जाता है। —विमला]

: १ :

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीम्
अम्ब! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

भारतीय संस्कृति का आधार हैं लाखों वर्षों पहले शब्दाङ्कित हुए वेद-उपनिषद एवं उनके विशद रूप षड्दर्शनादि। वेद-उपनिषदों में कहे गये तत्वज्ञान का सब से सुन्दर व्याख्यान है श्रीमद्भगवद्गीता।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

वैदिक संस्कृति का सार स्वयं वासुदेव द्वारा कहा गया। यह श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति का सारभूत ग्रन्थ है, इसे पहचान गये पाश्चात्य मनीषी मॅडम ब्लेवेट्स्की, डॉ. एनी बेसेन्ट आदि। विश्वभर की अनेकों भाषाओं में इस ग्रन्थ के अनुवाद हुए।

भारत में क्रमशः संस्कृत भाषा लोक में से उठती चली गयी और अध्यात्मग्रन्थ लोकसामान्य की पहुँच के बाहर हो गये; तब प्राकृत भाषा में अध्यात्म-व्याख्यान का पहला पुरुषार्थ किया बारहवीं शताब्दी (ई०) में महाराष्ट्र के सौरभ, बाल्यावस्था में ही योगेश्वर स्थिति में प्रतिष्ठित, सन्तकौस्तुभ श्री ज्ञानेश्वर ने। बारहवर्ष की किशोरावस्था में उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर स्वयंस्फूर्त मौलिक विस्तारवाली पद्यबद्ध व्याख्या लिखी एवं उस समय के पण्डितवर्ग सहित जनसामान्य के सम्मुख स्वयं सुनाई-समझाई। उस व्याख्या को नाम दिया— 'भावार्थदीपिका'। प्रणेता एवं प्रवक्ता के नाम से ही लोक में वह प्रख्यात हुई-'श्री ज्ञानेश्वरी' रूप में। सन्त विनोबाजी एवं सभी मर्मज्ञों का शब्दाङ्कित अनुभव है कि साहित्य एवं तत्वनिरूपण की दृष्टि से श्रीज्ञानेश्वरी ग्रन्थ अप्रतिम-अद्वितीय है।

गीता-भावार्थदीपिका' के प्रणेता सन्त ज्ञानेश्वर अभूतपूर्व अद्भुत विभूति थे । वे एक साथ तत्त्वज्ञानी, दार्शनिक, हठयोग-सिद्ध, राजयोग (पातञ्जल) की चरम भूमिका में सहजस्थित, परम वैष्णव, प्रगल्भ रसिक कवि सब कुछ थे । इसीलिये तत्त्वज्ञान पर अधिष्ठित उनके जीवनशास्त्र में भक्ति का रस ओतप्रोत है । वे दर्शन में मधुराद्वैत-धारा के प्रणेता, वास्तविक कर्मयोग (—ज्ञानोत्तर कर्म, ज्ञानोत्तर भक्ति) के पुरस्कर्ता हैं । यह सब निरूपण करने की उनकी अनूठी सरल व रसिक शैली की मौलिक विशेषता यह है कि श्रोता (या पाठक) को विषय की महती गहनता का भार नहीं लगता ।

श्रीज्ञानेश्वर का अध्यात्म जीवन से पलायन का प्रेरक नहीं बल्कि परमभक्ति का संचारक है। श्री आद्य—शङ्कराचार्य एवं ज्ञानेश्वर की विवेचन-पद्धति में बहुधा साम्य होते हुए भी उनमें मूल-भूत अन्तर स्पष्ट है। श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'यह विश्व है प्रभु की काया ।
यह नहीं नहीं रे माया !'

वे कहते हैं कि यदि जगत् का आदिकन्द सच्चिदानन्दघन चिन्मयी सत्ता है, वहीं से जगत् उत्पन्न हुआ है तो जगत् मिथ्या-माया कैसे ? मिट्टी के घड़े को कहीं भी स्पर्श करें, मिट्टी को ही स्पर्श होगा । वैसे ही इस विश्व के अनन्त नाम रूप—रस-गन्धादि वाले पदार्थों के सत्त्व को स्पर्श करने की कला सीखलें तो विषयों में विष का नहीं विषयाकृति में सजे विश्वात्मा का स्पर्श पा सकते हैं, उनकी लीला देख सकते हैं ।

ज्ञानेश्वर महाराज ने जीवन के किसी भी अङ्ग को अध्यात्म या साधनाक्षेत्र से बाहर नहीं देखा । ऐसी उनकी विशद दृष्टि पर एवं अद्वैत-अधिष्ठान पर विलसित भक्ति के निरूपण पर हम मुग्ध हैं । इसी अनुभूति से ही संभवतः सन्त एकनाथ ने श्रीज्ञानेश्वर—आरती में कहा होगा—

'मनु वेधिला धा माझा !'

: २ :

द्वितीय अध्याय

मोहजनित विषाद से ग्रस्त होकर शोक से आकुल—व्याकुल होकर अर्जुन रुदन करने लगा । शोक का आवेग उठा था, अपना ही समस्त कुल सामने देखा, ममता जागी । मालूम तो पहले भी था ही कि अपने ही भाई-भतीजे-मामा-दादा-गुरुजन आदि से युद्ध करना होगा, क्योंकि वासुदेव जैसे दूत की बात भी न मान कर दुर्योधन ने कह दिया था कि सूई की नोक जितनी भी भूमि युद्ध के बिना नहीं देंगे तब किसी ने भी दुर्योधन को समझाया नहीं था, दादा एवं गुरुजन सभी मूक रहे थे । इस के बाद ही युद्ध का निश्चय व संकल्प हुआ था, दोनों पक्षों ने वासुदेव से सहायता माँगी थी, दुर्योधनपक्ष १८ अक्षौहिणी तथा पाण्डव पक्ष ११ अक्षौहिणी सेना जुटा कर पूरी तरह सज्ज होकर आज संग्रामभूमि में आमने—सामने खड़े हुए थे । यह सब कुछ अपने ही संकल्प और उद्यम से हुआ था । और आज मानो वह सब कुछ भूल कर अर्जुन शोकातुर होकर रोने लगा ।

हम अपने जीवन से अनुबन्ध लगायें इस घटना का ! यही तो होता है हमारे जीवन में ! हम बुद्धि से निर्णय करते हैं, संकल्प करते हैं, तैयारी करते हैं— पर जब वह परिस्थिति मूर्त होकर सामने आती है तब मन डोल जाता है । चित्त-द्रवित, म्लान, क्लान्त, अवसन्न हो जाता है । यह भावना—आवेग का परिणाम है ।

चित्तदशा का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-पानी में पड़ कर नमक जैसे पिघल जाता है, या पवन के झोंके से बादल स्थानभ्रष्ट होते हैं, वैसे ही अर्जुन जैसे वीर—

वीर, प्रखर, योद्धा का चित्त भी द्रवित हो कर अपने स्थान से डिग गया। मानो कोई राजहंस फिसलकर कीचड़ में फंस गया हो। कुल की माया–ममता जागने से अब अर्जुन को दया आ रही थी। पहले तो युधिष्ठिर की अनिच्छा के बावजूद भीम–अर्जुन–द्रौपदी ही युद्ध के लिये तत्पर थे, अपमान का बदला लेना था, अन्याय का सामना करना था। उस भूमिका से युद्ध का संकल्प किया गया था। (तब नहीं कहा था कि हमें राज्य नहीं चाहिये, इन्हें मार कर अपना सुख या जीवन भी नहीं चाहिये! ये नासमझ हैं पर हम तो समझदार होते हुए कुकर्म न करें!...आदि। तब युद्ध का निर्णय क्षत्रिय के कर्तव्य रूप से किया गया था, विवश कुकर्म मानकर नहीं।) अब भावनावेग के कारण अर्जुन का चित्त जर्जर हो रहा था। [ज्ञा. २/१–५ ओवी, मूलगीता श्लोक २/१]

यह देख कर शार्ङ्गधर (श्री कृष्ण, मधुसूदन सर्वदा जड़ता–मोह–अन्याय को मिटाने वाले) कहने लगे—'अर्जुन! पहले देख तो सही कि तू कौन है? और क्या कर रहा है? इस स्थान पर इस परिस्थिति में क्या यह उचित है?'

पहले अध्याय में अर्जुन के प्रज्ञावाद और फिर 'गाण्डीव हाथ से खिसक रहा है, शरीर जल रहा है, मैं नहीं लडूंगा' सुन कर श्री कृष्ण आश्चर्यचकित थे। पूछने लगे– "अरे! अचानक तुझे यह क्या हो गया? युद्ध की तैयारी में क्या त्रुटि रह गयी? क्या कमी पड़ी तुझे? (मैं तेरा सारथि हूँ फिर) क्यों ऐसा खेद हो आया? अनुचित विचार को तू कभी चित्त में आने–ठहरने नहीं देता! धैर्य भी नहीं छोड़ता। अपयश तो तेरे नाम से ही मैदान छोड़ भाग जाता है; यानी युद्ध में तू हारेगा यह तो कोई सोच भी नहीं सकता (फिर अब तो मैं तेरे साथ बैठा हूँ) शूर वृत्ति का तो तू आश्रयस्थल है। तू स्वयं मिटे तो भी शूरता तुझ में स्थिर रहेगी ऐसा प्रखर है—ऐसी तेरी ख्याति तीनों लोकों में छायी हुई है। अर्थात् तू किसी से डरे, झुके या घबराये –यह कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसे तुझे यह क्या हो गया भाई?

(भूला हो तो याद दिला दूं कि–) तूने ही पहले संग्रामों में गन्धर्वों की फजीहत की थी, निवातकवच नामक दैत्यों को भगा दिया था, अरे स्वयं हर (शङ्कर) को तूने हराया था, जीत लिया था न!

तेरा मुकाबला कर सके ऐसा तो त्रिभुवन में कोई नहीं — इतना शुद्ध (कभी दूषित न हुआ) पौरुष है तेरा! वह तू आज यहाँ (रणक्षेत्र में तेरी सच्ची सहधर्मिणी–) वीरवृत्ति को छोड़ कर (सम्बन्धविच्छेद कर के) सिर झुका कर रो रहा है? धीरता और वीरता दोनों नित्यसङ्गिनियों को ठीक उनकी आवश्यकता के अवसर पर ही त्याग कर विपन्न हो रहा है!!)

[ओवी ६–१२]

[साहित्य–परम्परा में शृंगाररस को सर्वश्रेष्ठ या रसराज माना गया है, उसके सामने ज्ञानेश्वर महाराज ने प्रतिज्ञा की है कि "शान्तरस ही सर्वश्रेष्ठ है, श्री गुरुकृपा से इस गीता–भावार्थदीपिका में मैं शान्त द्वारा शृङ्गार को जीत कर दिखा दूंगा।" इसीलिये वे शान्तरस की भूमिका में भी जब–तब शृङ्गार का अवसर पाकर ऐसी सूक्ष्म रीति से नर्म–विनोद करते हैं, कभी स्पष्ट शृङ्गार को व्यक्त भी करते हैं, पर ऐसी परोक्ष एवं सूचक—व्यञ्जक रीति से कि बस 'समुझि मनहिं मन मोद भरें!' पूरे ग्रन्थ में यह ध्वनिगम्य शृङ्गार (जो वस्तुतः शृङ्गार का उत्तम रूप है) चुपचाप लजाता हुआ–सा सिमटा-लिपटा शान्तरस के पीछे–पीछे चलता है।]

"सूर्य को अन्धकार ने निगल लिया' ऐसा कभी होता है क्या ? अन्धेरा क्या सूर्य को छू भी सकता है ? पर आज वही हुआ दिख रहा है कि मोहवश करुणाने तुझे ऐसा दीन–हीन बना दिया है ।

अथवा पवन क्या कभी मेघों से भयभीत होता है ? 'इतने ढेर बादल छाये हैं, इन को कैसे पार करूँ ? कैसे बढ़ूं ?—यह चिन्ता क्या वायु को होती है ? अच्छा, अमृत कभी मरता भी है क्या ? स्वयं पीयूष का मरण कहीं संभव है ? अरे ! इन्धन क्या कभी अग्नि को निगल सकता है ? क्या अग्नि डरेगा कि इन्धन मुझे खा न जाये ?

कभी जल को भय होता है कि नमक का डला कहीं मुझे पिघला कर समाप्त न कर दे ! किसी भी संसर्ग से क्या कालकूट खुद मरेगा ? कालकूट विष को कोई संसर्ग मारेगा क्या ? कह तो सही कि मेंढ़क क्या महाफणी (बहुत बड़े नाग) को निगल जायेगा ?

सियार आकर सिंह पर झपटे और उसे हरा डाले ऐसी अनहोनी कभी घटित नहीं हो सकती । पर तू ने इस मूढ़ दीनता के वश हो कर आज वे सभी असम्भव बातें मानो सच कर दिखाई हैं । [ओवी १२–१६]

भाई अर्जुन ! अब भी संभल जाओ ! यह मूर्खता छोड़ो ! चित्त को दीनता के अधीन न रहने दो । सावधान होकर विचार करो, स्वयं संग्राम का निर्णय लेकर अब यह कारुण्य कैसा ? युद्धभूमि में आकर यह सदयता गुण नहीं दोष ही है । तू तो समझदार बुद्धिशील है ! जब जहाँ जो योग्य हो वह श्लाघ्य, गुणरूप होता है, वही कर्म अयोग्य देश–काल–परिस्थिति में दोषरूप हो जाता है । संग्राम का निर्णय लेने और आज की परिस्थिति (दूर–दूर से लाखों लोगों का युद्ध के लिये सज्ज होकर आना, मैदान में आमने–सामने डट जाना) निर्माण करने से पहले तुझे यह सदयता आती, करुणा जागृत होती तो ठीक भी था, किन्तु अब कदम पीछे हटाना उचित नहीं !

कोई भी निर्णय लेने से पहले अच्छी तरह खूब सोच–विचार लेना चाहिये, फिर कदम बढ़ाना चाहिये । अब पीछे मुड़ना निन्दनीय है, कोरी मूर्खता है क्योंकि इससे तेरी कीर्ति नष्ट होगी तू 'डर गया'–कहलायेगा, और क्षत्रिय हो कर रणभूमि में पीठ दिखाने से तेरा परलोक भी नष्ट होगा, साथ ही लाखों लोगों का यहाँ तक आने एवं रण की तैयारी करने का श्रम व्यर्थ जायेगा—इसका तथा परस्पर वैरभाव से यहाँ दो सैन्यों में बँट कर लड़ने की भावना को व्यक्त होने का – पाप तुझे लगेगा ।

[ओवी १७–२० गीता श्लो. २/२]

[गीता जीवनशास्त्र है, उस पर भावार्थदीपिका स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में—"ये शब्द नहीं, चिद्रत्नकलिका है, मेरे चैतन्य के उन्मेष हैं ! जीवन जीने का शास्त्र, जीने की शक्ति देने वाले शस्त्र और प्रतिपद आत्मा का साक्षात् अवतरण करानेवाले मन्त्र हैं ये अक्षर !"

मूलगीता के शब्दों का भावार्थ कहते-कहते महाराज की अन्तःकाया परमजीवनरसिकता चुप नहीं रहती । उनकी कविहृदयता केवल विविध अलङ्कार–लड़ियों एवं छन्द–अनुप्रास आदि तक सीमित नहीं रहती, वह रसग्राहकता से ओतप्रोत है । स्वयं कहा भी है—'ऐसे रसिक अक्षर यहाँ सजाऊँगा कि स्वाद में अमृत भी लजा जाये' ! फिर यह रसिकता केवल भौतिक भूमिका पर नहीं 'वाणी में श्रेष्ठ रसिकत्व उस में फिर परतत्त्व–स्पर्श !' महाराज का अधिष्ठान है । उनकी दृष्टि में 'वागीश्वर कवि शब्द-सृष्टि के ईश्वर हैं' जो सर्वतोव्यापी अव्यक्त परतत्त्व में अपनी प्रज्ञा को भिगो कर वह रस शब्दों में भरभर कर श्रोताओं को परोसते चलते हैं ।]

[वासुदेव कह रहे हैं—]

अर्जुन ! शोकाकुल होकर तू स्वयं शोचनीय हो गया है, इस शोक को झटक कर तू तेरा स्वभावोचित धैर्य धारण कर ! संग्राम की वेला में कृपालुता न तेरे हित में है न सामने खड़े विपक्षियों के हित में है । ये विपक्षी–जन क्या इसी क्षण तेरे गुरू–पितृव्य–पितामह–एवं सगे–सम्बन्धी बने हैं ? ये स्नेह–नाते, कुल–गोत्र के रिश्ते क्या पहले नहीं थे ? किन पर शस्त्र चलाने होंगे–यह पहले क्या तुम जानते नहीं थे ? जब संग्राम का निर्णय लिया था !

अब यह भावनाओं की अतिशयोक्ति करते हुए इन से सगेपन और धर्मनीति का तकाजा मुझे क्या समझा रहे हो ?

आज तो तुम ऐसी भाषा बोल रहे हो मानो जन्मभर में आज तक कभी–भी तुम किसी के सामने युद्ध में उतरे ही न हो ! यह संग्राम क्या तुम्हारे लिये नवीन एवं आश्चर्य की बात है ? क्या पहली बार लड़ने आये हो ? दुर्योधन पक्ष से तुम्हारा लड़ना–भिड़ना तो हमेशा चलता ही रहा है । अब आज यहाँ आने पर तुम्हारे हृदय में यह स्नेह की बाढ़ कहाँ से आ गई ? तुम्हारी यह दशा समझ से बाहर है । क्यों हुई मालूम नहीं, किन्तु यह तुम जो कह–कर रहे हो और अपने चित्त को शोक–ग्रस्त दीन होने दे रहे हो यह बहुत गलत बात है । अशोभनीय कर रहे हो यह स्पष्ट है । इससे तुम इहलोक में प्रतिष्ठा गँवा दोगे और संकल्पच्युति के अपराध से परलोक में भी अहित होगा ।

इसलिये तुम्हारे हृदय की यह विषादग्रस्त दशा, ढीलापन किसी भी तरह शुभकारक नहीं । बल्कि क्षत्रिय के नाते तुम्हारा नैतिक अधःपतन कराने वाली है । इसीलिये यह लज्जास्पद दुर्बलता छोड़कर उठ खड़े हो !

कृपाशील वासुदेव ऐसे अनेक प्रकार से अर्जुन को समझा रहे हैं, फिर भी वह प्रत्युत्तर में तर्क करने लगा । [श्लो. ३, ओवी २१–२९]

[मनुष्य जब भावना–आवेग के आधीन हो जाता है तब उसे तटस्थ बुद्धि को, बड़े से बड़े प्रिय सम्मान्य आप्तजन की बात व नेक सलाह भी समझ में नहीं आती, भावना–संवेग–ग्रस्त मनुष्य अपनी ही बात के समर्थन में बुद्धि लगाता चलता है, सारी समझ–शक्ति–बुद्धि–ज्ञान का उपयोग वह अपने उसी भावनावेग के समर्थन एवं पक्ष में करता है । इतना ही नहीं, बहुत बार तो वह भान भूल जाता है कि किससे क्या कह रहा है । यहाँ अर्जुन और वासुदेव रिश्ते में भाई हैं, बड़ा प्रेम है परस्पर, साथ ही वासुदेव की विशेष विभूतिमत्ता का–उनके अतुलित व अद्भुत सामर्थ्य का भान भी था अर्जुन को, अब तक के जीवन में कितनी ही भीषण एवं दुर्भेद्य विपत्तियों में से पार उतारा है वासुदेव ने ही ! यह भलीभाँति जानता था वह । इसीलिये तो इस संग्राम से पहले सहाय माँगने उन्हीं के पास गया था, और ११ अक्षौहिणी सेना के बदले निःशस्त्र अकेले वासुदेव को अपने साथ लेना पसन्द किया था ।

१

पैर आज जब उन्हीं वासुदेव ने प्रतिवाद किया, "गलत कर रहे हो, छोड़ो इस असमय की दुर्बलता को !" कह कर टोका, तब अहङ्कार को ठेस लगी ।

......मनुष्य जाता है आप्तजनों के पास समझ लेने, एवं सीखने के लिये; लेकिन जब (अपने मन के प्रतिकूल) स्पष्ट शब्दों में शिक्षा मिलती है, तब अहङ्कार सहन नहीं कर पाता, शिक्षण लेना तो दूर रहा, मनुष्य अपने ही समर्थन व बचाव में बुद्धि लड़ाने लगता है । अहङ्कार चाहता है केवल अनुमोदन और अपनी ही राह पर प्रोत्साहन । सच्चे प्रेमी हितैषी आप्तजन (सद्गुरु) मनुष्य के अहंकार की यह दुर्बलता पहचानते हैं, पर कठिनभाव दिखाकर भी अपने प्रियजन को अहित से हटाते व हित की राह दिखाते ही हैं, फिर भी निर्णय का अवसर उस व्यक्ति पर ही छोड़ देते हैं ।

यहाँ अर्जुन द्वारा मनुष्यमात्र की उस दुर्बलता का निदर्शन किया गया है । वह उलट कर वासुदेव को ही कहने लगा—] ।

देव ! किन्तु इतना कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है । पहले आप ही विचार कर देखिये कि इस संग्राम का स्वरूप क्या है और क्या इसका परिणाम होगा ? यह तो वास्तव में युद्ध नहीं प्रमाद है । उचित–अनुचित का विचार किये बिना ही यह युद्ध लड़ा जायेगा तो स्पष्ट ही हम अपना बहुत बड़ा अनर्थ कर बैठेंगे ।

उचित तो यह है कि मातापिता की पूजा की जाय, सर्वस्व अर्पण करके उनको सन्तोष दिया जाय । उस के बदले क्या हम अपने हाथों उनका वध करेंगे ? इससे क्या हमारा भीषण पतन नहीं हो जायेगा ? सन्तवृन्द को नमस्कार करना चाहिये, बन पड़े तो विधिवत् पूजन करना चाहिये, वाणी से भी उन का अपमान या निन्दा करना अपराध है, फिर उन पर बाण चलाना कैसा ? और सामने खड़े हैं हमारे पूजनीय गोत्र-गुरुजन ! फिर व्यक्तिगत रूप से भी मुझ पर पितामह भीष्म एवं गुरुदेव द्रोणाचार्य के अनन्त उपकार हैं । [मानो श्रीकृष्ण को यह कुछ भी ज्ञात नही ! बल्कि स्वयं अर्जुन भूल रहा है कि द्रौपदी के चीरहरण जैसे कुकृत्य के समय ये भीष्म–द्रोण–कृपाचार्य आदि सब गुरुजन सामने ही लाचार बने बैठे रहे थे, दुर्योधन–दुःशासन को रोक तक नहीं सके थे ।]

जिन के बारे में स्वप्न में भी मन में बैर नहीं ला सकता उनका प्रत्यक्ष घात कैसे करूँ ? अरे आग लगे इस जीवन को ! कि जिनसे धनुर्विद्या सीखी उन्हीं पर इसका प्रयोग करने चले हैं । न जाने क्या हो गया हमें कि ऐसी कुबुद्धि उपजी चित्त में ! उनके उपकार का यह पुरस्कार देने चले हम ? जिनकी कृपा से वर मिला (कि जिसके सिर पर हाथ रखोगे वह भस्म हो जायेगा) उन्हीं दाता (शङ्कर) पर उसका उपयोग करूँ— ऐसा मैं क्या भस्मासुर हूँ ?

[बचपन में धनुर्विद्या सीखते समय पाया हुआ गुरु–द्रोणाचार्य का विशेष स्नेह याद हो आया ।] केशव ! गम्भीरता की उपमा हमेशा समुद्र से दी जाती हैं किन्तु वह तो देखने भर का गम्भीर है, भीतर तो उसके वडवानल भड़कता रहता है; जबकि हमारे द्रोणाचार्य के तो कहीं मन में भी क्षोभ नहीं । ऐसे ही, गगन को अपार खुला कहा जाता है, उस गगन को भले नापा जा सके किन्तु द्रोण का हृदय अगाध गहन है ।

['गगन का भले माप हो सके'— यह कहना यहाँ केवल कवि–उचित नहीं, महाराज का संकेत है—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' तथा 'सत्यज्ञाना-नन्द वह तो गगन का प्रावरण।' 'आत्मा में आकाश ओतप्रोत है'–इस सत्य की ओर । साथ ही उन की गुरुभक्ति बोल रही है कि गगन की असीमता से बढ़कर अगाध उदार हैं श्रीगुरु । उन का माप कभी संभव नहीं । ......ऐसे सहज उपमा दृष्टान्तों में वेदान्त व भक्ति का रस छलोछल भरा हुआ है श्री ज्ञानेश्वर–वाणी में ।]

(ओवी ३१–४०)

अमृत में भले विकार आकर स्वाद उतर जाये, या कालवश होकर वज्र स्वयं फूट जाये पर गुरु-द्रोण का मनोधर्म कभी स्थानच्युत नहीं हो सकता। कितनी भी विकार-जनक या उत्तेजक क्षोभक परिस्थिति हो, इन की चित्तदशा अडिग रहेगी।

स्नेह के लिये माँ की उपमा दी जाती है, वह शायद सच भी हो! [माँ के स्नेह की सत्यता में भी 'शायद' लगा कर महाराज संकेत कर रहे हैं कर्ण की माँ की ओर!] किन्तु वास्तव में स्नेह-कृपा मूर्तिमती है द्रोणरूप में। ये कारुण्य का मूल स्रोत हैं, समस्त गुणों के निधि हैं, इतना ही नहीं सभी विद्याओं का अपार निरवधि सागर हैं।

[निरवधि शब्द का बहुत गहरा अभिप्राय है यहाँ। ईशावास्य में 'अविद्या और विद्या' शब्दों से सभी प्रकार का लौकिक-पारलौकिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान कहा गया, पर उन में एक-एक में रत होने का परिणाम अन्धतमस् में पड़ना बताया गया। दोनों को साथ-साथ जानते हुए उनसे परे आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान का संकेत किया गया। अविद्या व विद्या के अन्तर्गत आने वाला समस्त ज्ञान वृत्तिरूप है, क्रियारूप है, मन-बुद्धि के क्षेत्र का है, इससे परे है आत्मबोध! वह किसी की कोई क्रिया नहीं, आत्मा का स्वयम्भू स्वसंवेद्य स्वभाव है। उस ज्ञान के निधान हैं श्रीगुरु—यह कहना अभिप्रेत है।]

कहिये तो वासुदेव! ऐसे महान् एवं हमारे प्रति विशेष कृपाशील इन गुरुद्रोण पर नयी धार चढ़े बाण चलाना—शस्त्र प्रहार करना क्या सोचा भी जा सकता है? इन का वध करके हम रुधिर सने राज्यसुख का उपभोग करें-यह तो चित्त किसी तरह मानने को राजी नहीं। भले प्राण गँवाने पड़ें, पर यह कुकृत्य करना जँचता नहीं। अरे, संपूर्ण पृथ्वी का एकच्छत्र साम्राज्य मिलता हो तो भी मुझे नहीं चाहिये। इस से तो भीख माँगनी भली! देश छोड़कर वन में गिरिकन्दराओं में रहना भी मंजूर है।

ऐसे अर्जुन अनेक प्रकार से श्रीकृष्ण को अपना मनोगत सुनाने लगा, किन्तु वे मानो कुछ सुन ही नहीं रहे थे। उन की मुखमुद्रा पर कोई भी परिवर्तन न देखकर अर्जुन जरा सहम गया। पर फिर होश सँभाल कर कहने लगा कि देव! क्यों आप मेरी बात पर ध्यान नहीं दे रहे हैं?

[ओवी ४१-५० श्लो. ४-५]

मेरे चित्त में जो कुछ आया वह विचारपूर्वक मैंने आप से कहा है, अब इससे अच्छा क्या है वह आप ही जानें, मेरी समझ में नहीं आ रहा है। ... जिनके प्रति 'वैर' शब्द का उच्चारण और श्रवण भी ऐसा अपराध है कि प्राणत्याग करने पड़ें, उनके सामने आज हम संग्राम-हेतु से खड़े हो गये! ...इन स्वजनों-गुरुजनों का वध करूँ या शस्त्रत्याग कर निकल जाऊँ यहाँ से? क्योंकि इन्हें मार कर तो जीने की भी इच्छा नहीं है। क्या करूँ यह नहीं समझ पा रहा हूँ। हमारे लिये क्या उचित है? इसकी स्फुरणा मेरे चित्त में नहीं हो रही है। मेरा चित्त मोहवश व्याकुल हो गया है। मुझे कुछ सूझता नहीं।

[अब अर्जुन को भान हुआ कि किस से क्या कह रहा हूँ? अपनी मर्यादा ध्यान में आयी। जो कुछ बोला गया वह अनुचित है यह भान हुआ। अहङ्कार को ठेस लगी थी उसकी प्रतिक्रिया में बहुत कुछ बोला गया, अब होश आया तब नम्र हुआ चित्त।

अपनी त्रुटियों व मर्यादा का भान जागे बिना समर्पण का भाव जागृत नहीं हो सकता। बुद्धिगत ज्ञान में वह शक्ति नहीं है। क्योंकि समर्पण विचार नहीं है, सङ्कल्प नहीं है। समर्पण है हृदय का पिघल जाना! अपनी अशुद्धियों-त्रुटियों दोषों का भान जागने से अहङ्कार की ग्रन्थि पिघलने लगती है, उसमें से आर्जव पैदा होता है। नवनीत जैसा कोमल चित्त हो जाता है, अहङ्कार की

जकड़न नहीं रहती । तब एक ओर श्रद्धा जागती है (कि प्रभु हैं, मैं प्रभु का हूँ ।) साथ ही समर्पण कि "प्रभु ! आप जैसा सुझायेंगे वही करूँगा। चित्त नवनीत जैसा कोमल होता है, पर बलहीन दीन नहीं । नवनीत बल बढ़ाता है, वैसे ही ऋजुता मृदुता–स्निग्धता भी आत्मबल जागृत करती हैं ।]

[पिघले चित्त से कह रहे हैं कि] मेरा चित्त व्याकुल है । तिमिर (अन्धेरा तथा मोतियाबिन्द रोग) से घिरी (आँख) दृष्टि का तेज जैसे नष्ट हो जाता है, दृष्टि में दोष न हो तो भी अँधेरे में वह काम नहीं कर सकती ऐसे ही बुद्धि भी अज्ञान व मोह से घिरी हो तो सत्य व तथ्य को देख नहीं पाती ।

[इसलिए अर्जुन को सगे–सम्बन्धी–गुरुजन दिख रहे हैं, पर अधर्म–अन्याय का पक्ष लेने के नाते अन्यायी व धर्मच्युत व्यक्ति नहीं दिख रहे ।]

मेरे मन को भ्रान्ति ने ग्रस लिया है । हमारा हित किस में है यह समझ नहीं पा रहा हूँ । अब तो हे श्रीकृष्ण आप को जो उचित जान पड़ता हो वही मुझे बताइये ! हमारे तो सखा एवं सर्वस्व इष्टदेव तक आप ही हैं ! सभी विपत्तियों–आपदों में से आपने ही हमारी रक्षा की है । हमारा हित आप ही पहचानते हैं ।

[भगवान् भक्तों की या शरणागत की रक्षा करते हैं इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें प्रारब्ध नहीं भोगना पड़ता । पाण्डवों को वनवास–अज्ञातवास पूरा करना ही पड़ा, द्रौपदी एवं पाँचों पाण्डवों को द्यूतसभा में घोर अपमान का परिस्थिति सहनी ही पड़ी, किन्तु अहित कहीं होने नहीं दिया । शरणागत के दैहिक-प्रारब्ध का भोग होने देते हुए भी भगवान् उसे भीतर से शक्ति देते हैं कि धैर्यपूर्वक विपदा पार कर सके ।]

जैसे गुरु कभी शिष्य का त्याग नहीं करते, सागर कभी सरिताओं को लौटा नहीं देता । [न तो ये किसी को बुलाते हैं न स्वयं आये हुए किसी का अस्वीकार या तिरस्कार करते हैं ।] माँ ही यदि अपत्य (सन्तान) को छोड़ दे तो उसकी क्या दशा होगी ?...देव ! सब तरह से मैं ने देख लिया है कि जीवन में हमारे अपने तो एक आप ही हैं । कृपया मेरी पहली बातों पर ध्यान नहीं दीजियेगा, शीघ्र आप ही बताइये कि हमारे लिये उचित क्या है जिस से क्षत्रिय धर्म न छूटे, कोई अहित न हो ।

समस्त कुल को सामने खड़ा देखकर मेरे चित में जो शोक–मोह उभर आया वह आपके वचन बिना किसी अन्य उपाय से जायेगा नहीं । [अपने पुरुषार्थ–बल से] इस पृथ्वी को अलमय बनाया जा सकता है, चाहे महेन्द्रपद भी प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु कैसे भी पुरुषार्थ से–अपने बल–सामर्थ्य–बुद्धि आदि से चित्त का यह मोह नहीं मिट सकता । जैसे कितना भी उत्तम बीज हो, किन्तु आधा–भुना हुआ हो तो कैसे भी उत्तम खेत में बोयें, भरपूर सिंचाई–करें तो भी वह बीज कभी अंकुरित नहीं होता । वैसे ही मोह की अग्नि में झुलसे हुए सुविचार भी व्यर्थ हो जाते हैं, उनसे कोई सृजनात्मक निर्णय नहीं निकल सकता ।

अथवा आयुष्य पूरा हो चुका हो तो उत्तम औषध भी काम नहीं करती, तब तो परम अमृत ही उपाय हो सकता है । ऐसे ही मेरी बुद्धि महामोह–व्याधि से ग्रस्त है, उसके लिये आपका वचन ही परम अमृत होगा । राज्य–सुख–समृद्धि आदि से यह जीवबुद्धि अब जी नहीं सकेगी । हे कृपानिधि इसे तो आपके कारुण्य की ही नितान्त अपेक्षा है ।

[ओवी ५१–६८, श्लो. ६–८]

श्रीज्ञानेश्वरी

[द्वितीय अध्याय पर श्र. विमलाजी के प्रवचनों का सारसंकलन—क्रमिक]

३

महामोह में डूबते हुए व्याकुल अर्जुन के समीप बैठे हैं कृपासिन्धु श्रीकृष्ण। वे अब खेल ही खेल में अर्जुन को इस संकट में से उबार लेंगे। उन्होंने देख लिया है कि मोह-भ्रान्ति ने अर्जुन को ऐसा निगल लिया है जैसे बादलों ने भानु को ढक दिया हो। ग्रीष्मऋतु में पर्वत पर दावानल भड़क उठा हो, ऐसा वह दुःख से जर्जर हो गया है।

इसीलिये कृपापरवश हो कर वे सहज सुनील श्यामल (कृपारूपी अमृत-जलभरे) श्री गोपालरूपी महामेघ बरसने (बोलने) को तत्पर हुए। उस महामेघ में विद्युल्लता जैसी झलक रही थी सुदर्शन (चक्र) की द्युति। और मुख से गम्भीर नाद निकला वही मानो गर्जना थी। अब देखिये वे उदार महामेघ, मोह दावानल से पीड़ित गिरिवर अर्जुन पर कैसी अमृतवर्षा करेंगे; जो भर कर अब वह सब सुनिये।

क्षण भर के लिये भ्रान्तिमुक्त हुए अर्जुन ने इतना कहा, कि फिर से उसी मोहव्याधि का दौरा उठा। ऐसा लगता है कि यह केवल व्याधि का आवेग नहीं, महामोह रूपी कालसर्प ने ही अर्जुन के हृदय को डस लिया है। बुद्धि, भावना में चैतसिक स्तर तक विष छा रहा है। यह दशा देख कर श्रीहरि रूपी गारुडी (विष दूर करनेवाले विशेष वैद्य, सर्पों को वश में लाने वाले सँपेरे) ने चौंक कर उसकी ओर देखा। केवल दृष्टिपात से ही विष उतारने की उनकी क्षमता थी। समझ चुके थे कि केवल शब्दों से यहाँ काम नहीं बनेगा। वाणी से अधिक शक्ति है दृष्टि में। [नाथपन्थ में शाब्दी दीक्षा के स्थान पर 'दृष्टि-दीक्षा को विशेष महत्त्व दिया गया है। वाणी को पार्थिव माना है मुखगुहा के स्पर्श के कारण उच्छिष्ट भी माना है; दृष्टि-स्पन्दन शुद्धतम कहे गये हैं।]

[यहाँ दृश्य-श्रव्य का अद्भुत मिलन है। यह काव्य की विलक्षणता है कि श्रव्य में भी दृश्यत्व आ रहा है। ज्ञानेश्वर महाराज की प्रतिज्ञा है ('निवृत्तिदास ज्ञानदेव' कहते हैं,) कि मेरे गुरुदेव की यह वाणी अवधानपूर्वक श्रवण करें तो आत्मलाभ-स्वरूपबोध-साक्षात्कार हुए बिना रह नहीं सकता।

ऐसा श्रवण तभी हो सकेगा जब अपने सर्वाङ्ग की समग्र शक्ति श्रवणेन्द्रिय में एकाग्र होगी; सर्वाङ्ग से सुनोगे और चित्त से देखोगे।] (श्लो० ९ ओवी-८०)

किन्तु (संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं कि) वह पार्थ फिर से शोकाकुल होकर बोला—"श्रीकृष्ण! आप मुझे समझाइये नहीं। मैं किसी भी तरह अब युद्ध करनेवाला नहीं हूं।" इतना कह कर वह चुपचाप बैठ गया।

उसकी यह दशा देखकर श्रीकृष्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ कि पार्थ को बारम्बार यह क्या हो जाता है? अब इसने यहाँ संग्रामक्षेत्र में क्या शुरू किया है? मालूम पड़ता है यह इतनी गहराई तक भ्रान्ति में फंस गया है कि इसे उचित-अनुचित कुछ भी सूझ नहीं रहा है। अब क्या किया जाय कि इसका धैर्य वापस आये। पंचाक्षरी मान्त्रिक या ज्योतिषी जैसे जीव का तथा ग्रहों व राशियों का संयोग देखकर अनुमान लगाता है कि क्या करना होगा वैसे यहाँ शोक व्याधि में अर्जुन का चित्त ग्रस्त है। इस मोहग्रहजनित व्याधि या विष को उतारने के लिये क्या उपाय किया जाय-यह विचार कर रहे हैं श्रीकृष्ण।

[यहां एक बात ध्यान में लेने लायक है कि 'अर्जुन को क्या करना चाहिये यह मैं बता दूं-' यह नहीं कहा जा रहा। स्वयं इसे अपना कर्तव्य बोध किस प्रकार होगा-इसी की चिन्ता है श्रीकृष्ण को। वे चाहते हैं कि अपना कर्तव्यबोध इस के चित्त में सहज जागृत हो जावे।

सच्चे गुरु शिष्यों के लिये निर्णय नहीं कर देते; भगवान् भी नहीं करते। एक जगह ज्ञानेश्वर महाराज ने वासुदेव-मुख से कहलाया है कि "अर्जुन ! तू ज्यों-ज्यों अपना हित समझने लगता है, त्यों-त्यों हमारे चित्त में आनन्द द्विगुणित होता है।"

अर्जुन के प्रश्न का पाँच वाक्यों में उत्तर दे सकते थे कि "यह कर ! यह न कर।" लेकिन बाकी सत्रह अध्याय गीता कही मोहनिरसन के लिये। सांख्य-योग, वेदान्त, भक्ति, ज्ञान, कर्म, श्रद्धा, संसार का स्वरूप, दैवासुर सम्पत्ति आदि सभी प्रकार से अर्जुन को समझा दिया कि "परिस्थिति का विचार इतनी तरह से किया जा सकता है। अब करना क्या है यह तू सोच ले।"]

जैसे कोई वैद्य जब रोगी की व्याधि को असाध्य देखता है तब हेमगर्भ की मात्रा जैसी खतरे के अन्तिम क्षण में दी जाने वाली अतिशय शक्तिशाली एवं अमृतसम दिव्य ओषधि देने के लिये उसके अनुपात का विचार करता है; बहुधा वह दिव्य चमत्कारिक ओषधि कोई विष होता है, जिसकी सूक्ष्म मात्रा अनुपान-भेद से अमृतमय परिणाम दिखाती है। वैसे ही अब श्रीकृष्ण जो बातें अर्जुन से कहेंगे वे उसे विष जैसी तीक्ष्ण लगने वाली हैं। पर काम उन्हीं से बनेगा। सीधा-सादा उत्तर यहाँ निष्फल रहेगा। यह वे परम वैद्यराज जानते हैं।

आयुर्वेद की यह विशिष्टता है कि यहाँ केवल ऊपरी-प्रकट उपसर्गों (सिर-पेट-पीठ दुखना उल्टी-दस्त होना आदि) को हटाने या बैठा देने की दृष्टि नहीं रहती, उन उपसर्गों की जड़ का, मूल कारण का निदान करके पूरे व्यक्ति की व्याधि मिटायी जाती है। पूरे व्यक्ति को यानी उसकी जीवनचर्या को देखकर, नाड़ी-परीक्षा करके रोग का निदान, फिर चिकित्सा-ऐसा क्रम रहता है।

ऐसा ही अर्जुन की दशा एवं परिस्थिति का विश्लेषण कर रहे हैं श्री अनन्त ! दोनों शस्त्रास्त्र-मण्डित सैन्यों के बीच में रथ खड़ा है, लगाम हाथ में हैं, और सोच रहे हैं कि "अब क्या उपाय किया जाय जिस से पार्थ भ्रान्ति छोड़ दे !"

अर्जुन को भ्रम हो गया है कि वह मारने वाला है और ये (सामने पक्ष वाले) मरनेवाले हैं। जन्म व मरण का रहस्य भूल गया है वह। सृष्टि-उत्पन्न करनेवाले परमतत्त्व एवं सृष्टि में रहनेवाले जीव के विषय में भ्रान्ति पैदा हुई है।

मोह रूपी व्याधि का बीज है यह भ्रान्ति। बुद्धि निर्भ्रान्त न हो तो चित्त संशय-रहित नहीं होता। मोहमुक्त चित्त के लिये निर्भ्रान्त बुद्धि चाहिये। अतः अर्जुन की भ्रान्ति मिटाने का हेतु मन में निश्चित करके श्रीकृष्ण ने मानो-रोष दिखाते हुए कहना आरम्भ किया। उस व्याधि मिटाने में समर्थ प्रभावशाली, कड़वी ओषधि के समान, रोष का अभिनय करते हुए श्रीकृष्ण ने बोलना आरम्भ किया।

माँ के कोप में, क्रोध में स्नेह कूट-कूट कर भरा होता है; केवल माँ का प्यार ही क्रोध को धारण-सहन कर सकता है, वह दाहक नहीं पावक होता है। वैसे ही वासुदेव के इस रोष के पीछे अर्जुन के लिये प्रेम भरा था; ओषधि की कड़वाहट जैसे परिणाम में अमृतमयी होती है; वह संजीवनी शक्ति ओषधि में विद्यमान होते हुए भी दिखाई देती है गुणों के द्वारा परिणाम में। वैसे ही वासुदेव के तीक्ष्ण शब्दों में जो अमृत भरा है वह परिणाम में दिखाई देगा। बस ऊपर से देखने में ही उनके वचन रूखे-सूखे उदास हैं, भीतर (हेतु व शक्ति रूप से) वे अत्यन्त सुरस (रसमय) हैं।

[श्लो. १०, ओवी...८१-९०]

वासुदेव अर्जुन से कहने लगे—मैं बड़े आश्चर्य को नई घटना आज देख रहा हूँ। रणभूमि पर आकर बीचोबीच खड़े होकर तूने यह जो नाटक शुरू किया है इसे देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हो रहा है। नाटक क्यों? तू अपने आप को बड़ा ज्ञाता समझता है पर अज्ञान को–मोह को छोड़ नहीं रहा है; एक ओर मुझे कह रहा है कि 'कुछ सूझ नहीं रहा, आप सिखाइये।' फिर साथ ही बड़ी–बड़ी नीतिशास्त्र की बातें बोल रहा है और कहता है कि 'किसी भी तरह मैं युद्ध नहीं करूंगा।' उलटे मुझे ही नीति सिखा रहा है कि 'यहां युद्ध सर्वथा अनुचित है।' तेरी बातें तो ऐसी हैं जैसे किसी जन्मान्ध व्यक्ति को उन्माद चढ़ा हो और वह जहाँ–तहां जैसे–तैसे दौड़ रहा हो! वैसे तेरी बुद्धि अपनी दशा के समर्थन के लिये, कारण ढूंढती हुई नीतिशास्त्र में अनर्गल दौड़ रही है।

[जब तक आत्मसत्ता का स्वीकार न हो तब तक बुद्धि अन्ध है। जब बुद्धि अपनी मर्यादा का तथा आत्मा की सत्ता का स्वीकार करती है तभी उसकी अन्धता दूर होती है।]

तू अपने आप को तो जानता नहीं अपना स्वरूप पहचानता नहीं; और चला है कौरवों के जनमने–मरने का शोक करने!...[अपने आप को जानना ही वास्तव में जानना (ज्ञान) है। बाकी सारा पदार्थज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है। (अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्) आत्मज्ञान से इतर सब अविद्या है। इसी सन्दर्भ में कह रहे हैं–] कौरवों के मरने की चिन्ता करने चले हो पर तुम हो कौन? दूसरों के लिये शोक करने का तुझे कोई अधिकार नहीं,, जब–तक तू अपने आप को जानता नहीं।

तू इतना तो मुझे बता कि इस विश्व की रचना क्या तू ने की है? तेरे टिकाये ही क्या ये त्रिभुवन टिके हुए हैं? यह समस्त सृष्टि-प्रवाह अनादि है, अनादिकाल से चला आ रहा है यह बात क्या झूठी है? असत्य है? हमने तो अब तक यही सुना है कि विश्व के उत्पत्ति-स्थिति–विलय एवं जन्म–मरण हमेशा से चलते ही आये हैं।

[यहाँ सद्गुरु बोल रहे हैं। भ्रान्ति-निरसन के लिये सीधे मूल सत्य की बात छेड़ी है। ऊपर–ऊपर की बातें (इहलोक की प्रतिष्ठा जायेगी, परलोक की हानि होगी आदि) नहीं!]

अर्जुन! हमने सुना है कि एक ही समर्थ, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र परम सत्ता है, उसीके सामर्थ्य से ये उत्पत्ति–स्थिति–लय चलते रहते हैं। अरे! जल की सत्ता न हो तो जलाशय में, सागर में लहरों की अठखेलियाँ, बड़ी–बड़ी तरङ्गों का सतत उठना-मिटना, ज्वार–भाटा–इत्यादि सब कहाँ? सागर के वक्ष पर ही यह सम्भव है न! ऐसे ही परमात्मसत्ता–रूपी अधिष्ठान पर ही इस त्रिभुवन या अखिल ब्रह्माण्ड (विश्व) की उत्पत्ति–स्थिति-लय चलते हैं।—यह हमने सुना है ('श्रुतियों'–वेदों ने कहा है) वह असत्य है क्या? क्या तू ने यह विश्व बनाया है? और तू ही क्या इस के स्थिति–विनाश के लिये जिम्मेवार है?

[अर्जुन ने छेड़ा है वासुदेव को! जो सामान्य जीवमात्र नहीं—'सर्वभूतनिवास' है उन के वास से ही सम्पूर्ण विश्व सुवासित है, वे एक–एक ज़र्रा पकड़कर उत्तर देंगे!]

क्या पहले का सिद्धान्त मिट चुका और अब नया सिद्धान्त आया है कि तू ने जन्म–मरण पैदा किये हैं। इन्हें सम्हालने की जिम्मेवारी भी पूरी तुम्हारी ही है? तू न मारे तो क्या किसी का नाश नहीं होगा? तू मारे तो ये मरेंगे, नहीं तो क्या जीवित रहेंगे-चिरन्तन अमर रहेंगे?

[इन के द्वारा किये गये अन्याय का प्रतिकार करने में कदाचित् इनकी मृत्यु का निमित्त तू बन सकता है, किन्तु मृत्यु या रक्षण का कर्ता तू नहीं!] समझ रखो अर्जुन! ऐसा न मानना कि तू ही वध करने वाला है और बाकी सब लोग मरने वाले हैं। ऐसा भ्रम चित्त में न आने देना। जन्म–मृत्यु में खेलने वाली सत्ता बहुत बड़ी है। उसके हाथ में है सब (आगे ११वें अध्याय में कहने वाले हैं–'लोक का क्षय करने में प्रवृत्त काल मैं हूँ।]

वे

ये उत्पत्ति-स्थिति-लय विश्व का अनादि स्वभाव है। किसी के रोकने से यह रुकता नहीं और किसी के किये ये होते नहीं। तू व्यर्थ ही इस चिन्ता में क्यों पड़ा है कि कौन जियेगा, कौन मरेगा? यह सब दुःख न करते हुए तू तो अपना स्वधर्म सोच!

मूर्ख की तरह तू बात समझ नहीं रहा, इसीलिये जिस बारे में कुछ भी दुःख चिन्ता नहीं करनी चाहिये उसी की चिन्ता में डूबा हुआ है; उस पर हम को तू नीति सिखाने चला है। देखो! जो विवेकी होते हैं, वे आत्मा व अनात्मा को पृथक् स्पष्ट पहचानते हैं, वे दोनों (जन्म व मृत्यु) का सुख-दुःख नहीं मानते हैं। जन्म का हर्ष नहीं, मृत्यु का शोक नहीं।

[संसारी लोग वर्षगांठ का उत्सव मनाते हैं इस पर विनोबाजी कहते थे कि यह जन्मदिन मनाने में हर्ष जतलाने के साथ ही वास्तव में यह स्मरण दिलाया जाता है कि 'इतने वर्ष तेरे जीवन के बीत गये, अब इतने ही बाकी रहे हैं। और भविष्य तो अनिश्चित है; कब अन्तिम श्वास आ जायेगा कोई नहीं कह सकता। इसलिये मनुष्यदेह सार्थक करने की राह पर तेजी से चलो!' उपहार भी यह स्मरण दिलाते रहने वाले प्रतीक ही होते है। विनोबाजी एवं दादा ने अपनी-अपनी रीति की सबलता से सुवर्णजयन्ती, षष्टिपूर्ति, अमृत-महोत्सव आदि कुछ भी मनाने नहीं दिया।]

विवेकी जानते व कहते हैं कि यह 'होना-जाना' (जन्म-मृत्यु) दोनों भ्रान्ति है। जन्म व मृत्यु तो देहधर्म हैं। आत्मा देह रूप आकारों में आता है जाता भी है पर स्वयं आत्मा इन से अप्रभावित अस्पृष्ट रहता है। इसलिये, तू बाण चलायेगा-ये लोग भी चलायेंगे, बहुत लोग मरते हुए दिखेंगे लेकिन यह न मानना कि इससे तुम्हारा व इन का आत्मा कष्ट पायेगा या नष्ट होगा! इस सत्य-तथ्य को समझ कर जो मृत्यु से सुखी-दुःखी नहीं होते वे ही विवेकी हैं।

[श्लो ११, ओवी-८१-१०२]

अर्जुन! यदि तू भ्रान्ति में से निकलना चाहता है तो मेरी एक बात ध्यान देकर सुन ले! तू, मैं, और ये जो भूपति (राजा लोग) आदि सब यहाँ खड़े हैं। ये नित्य इन्हीं देहों-आकारों में रहेंगे ऐसा नहीं है। सब का क्षय होगा, मृत्यु होगी। फिर सब मृत हो रहेंगे, सदा के लिये मर जायेंगे ऐसा भी नहीं है। वर्तमान आकारों का क्षय होगा किन्तु इन के भीतर जो तत्त्व है वह नष्ट नहीं होगा। अव्यक्त में चला जायेगा। वस्तु का सम्पूर्ण विनाश असम्भव है और आकारों की नित्यता असम्भव है। यह उपजना और नष्ट होना जो दिखता है यह आकार की माया है। मूल में जो वस्तु है वह अविनाशी है।

[भारतीय संस्कृति में, वैदिक दर्शन में दो समान्तर सत्ताओं का स्वीकार नहीं है। पाश्चात्य धर्मों में परमात्मा और 'शैतान' (God, Devil) या भला तथा बुरा-(good evil) ऐसी दो सत्तायें मानी गयी हैं। जो परस्पर विरोधी हैं। वह भारतीय संस्कृति में नहीं। हमारी दृष्टि का दूसरा विशिष्ट मौलिक पहलू यह है कि यहाँ विनाश-सर्वथा समाप्त नष्ट हो जाना (Destruction) की मान्यता नहीं। वस्तु में रूपान्तर आकारान्तर गुणान्तर होते हैं किन्तु विनाश नहीं होता। मृत्यु के बाद शरीर को जला देते हैं तो शरीर बने हुए पंचमहाभूत अपने-अपने मूल महाभूतों में मिल जाते हैं इसीलिये देहान्त का एक नाम है पञ्चत्वप्राप्ति। प्राण चले जाने के बाद शव का भी अन्त्येष्टि संस्कार (अन्तिम यज्ञ) किया जाता है। प्रथम गर्भाधान संस्कार से मनुष्य देह का प्रारम्भ और सोलहवें अन्त्येष्टि से उस का विसर्जन बीच में चौदह संस्कारों से इस तन-मन-बुद्धि को परिमार्जित करना-ऐसी व्यवस्था भारतीय संस्कृति ने की थी।] [क्रमशः]

श्रीज्ञानेश्वरी अर्थात् भावार्थदीपिका

[श्र. विमलाजी द्वारा द्वितीय-अध्याय-व्याख्यान का सारसंकलन क्रमिक]

४

[समझाते हुए कह रहे हैं वासुदेव] "अर्जुन ! ऐसा न मानना कि तू, मैं और ये सब भूपति आदि पहले नहीं थे और आगे भी नहीं होंगे । देखो, पवन जल को हिलाता है तो जल में लहरियाँ-तरङ्गें उठती हैं, वही तरङ्गों का जन्म है, जितनी देर वह आकार रहा उतनी तरङ्ग नाम की स्थिति है और फिर वायु का वह स्फुरण या कम्पन समाप्त होने पर जल सपाट हो जाता है, यानि जहाँ तरङ्ग उठी थी वहीं समा गयी तो वही उस तरङ्ग का विलय या अन्त है । पर कभी भी वह तरङ्ग जल से भिन्न है क्या ? वहाँ जन्म-मृत्यु की भाषा नहीं लग पाती क्योंकि अभेद प्रत्यक्ष दिखाई देता है। पृथ्वीप्रधान पंच महाभूतों से बनी काया अधिक स्थूल है और देश-काल के साथ जुड़ा हुआ शरीर का हलन-चलन कुछ अधिक अवधि तक दृष्टिगोचर रहता है और प्राण रूप से परमसत्ता से जुड़ा रहने पर भी वह सम्बन्ध अतिसूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देता । इसीलिये यहाँ जन्म-मृत्यु को इतना प्राधान्य मिला हुआ है । अन्यथा मनुष्यादि प्राणियों के भी शरीर का ही रूपान्तर होता है, सत्व-तत्त्व सदा अविनाशी है । उसके जन्म-मृत्यु नहीं होते । इतना समझ लो तो भ्रान्ति व मोह में से निकल सकोगे ।

व्याधि जितनी गहरी व भयानक, ओषधि भी उतनी ही गहराई व उत्कटता से काम करने वाली । अर्जुन शोकमग्न है और वासुदेव सारा तत्वज्ञान खोल कर उसके सामने रख रहे हैं, कि पहले अपना और इन सब का शाश्वत स्वरूप परख ले, फिर शोक करना । समग्र की समझ में से ही-सामने आई विशिष्ट घटना को-देखना है । यदि समग्रता (Totality) का आकलन नहीं है तो विशिष्ट (particular) को भी वस्तुतः समझा नहीं जा सकता ।

अब तो भौतिक-पदार्थ-विज्ञानवेत्ताओं को भी इस तथ्य का भान हुआ है कि एक-एक पदार्थ के परमाणुओं को लेकर जीवन के तत्त्व चरम सत्य खोजते रहेंगे तो कभी बात नहीं बनेगी । पहले समग्रता को, सब कुछ के अधिष्ठान को समझना होगा ।

[यहाँ वासुदेव-मुख से ज्ञानेश्वर महाराज समझा रहे हैं कि जन्म और मृत्यु दोनों चैतन्यसागर पर, पञ्चमहाभूतों की सतह पर उठने वाले तरङ्ग जैसे हैं, कोई नई उत्पत्ति या विनाश नहीं । मृत्यु कोई निषेधात्मक आकस्मिक अन्तकारिणी घटना नहीं । जन्म से पहले भी जीवन था, मृत्यु के उपरान्त भी जीवन है । जीवन का कभी मरण नहीं होता ।

ऐसे, लोकगम्य सुलभ शैली में महाराज गहन वैदिक तत्वज्ञान का विषय समझा रहे हैं ।]

(श्लो० १२, ओवी-१०३-११०)

सुनो अर्जुन ! शरीर एक ही रहता है, लेकिन आयु बढ़ने के कारण उस में अनेक प्रकार के भेद होते चले जाते हैं । यह प्रत्यक्ष प्रमाण ही देख लो ! पहले बालक में कुमारावस्था दिखाई देती है । फिर तरुण (युवा) होने पर वह कौमार्य एकदम लुप्त हो जाता है । थोड़े-थोड़े वर्ष बीतने पर एक के बाद एक नई अवस्थायें अपने-अपने रंग-ढंग छटायें गुणधर्म लिये हुए शरीर में आती-जाती हैं किन्तु शरीर वही बना रहता है, एक अवस्था बीतकर नई आने पर साथ-साथ पहला शरीर पूरा नष्ट हो कर दूसरा नहीं आ जाता। एक शरीर में अनेक अवस्थाओं की तरह ही चैतन्य-सागर पर तरङ्गों की तरह एक के बाद

दूसरे अनेकों शरीर आते–जाते रहते हैं । इस तथ्य–सत्य को जो जानते हैं, समझते हैं, उन को फिर मृत्यु का कोई शोक या दुःख नहीं होता ।

वासुदेव उद्युक्त (जुटे हुए) हैं अर्जुन के मोह–निरसन के लिये । मूलभूत तथ्य–सत्य की पकड़ न आये तब तक मोह जाता नहीं, उस की पकड़ नागपाश जैसी पक्की एवं जल्दी ढीली न पड़ने वाली होती है । सिद्धान्त तो प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा स्पष्ट समझा दिया कि मृत्यु दुःख का विषय नहीं । इसे रोज के जीवन में जीयेंगे कैसे ? यह समझाने का उपक्रम आगे कर रहे हैं ।

"गीता जीवन जीने का शास्त्र (साधन) है और प्रत्यक्ष जीवन में आत्मा को अवतरित करने का मन्त्र है" केवल सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान का निरूपण नहीं है । नियम–विधि–निषेध आदि कर्मकाण्ड के चौखटे या ढांचे में चेतना को–मन–बुद्धि–शरीर को बांध कर कृत्रिम जीवन भी नहीं जीना है । आत्मा की स्वाधीनता–मुक्तता–चिदानन्दमयता कायम रखते हुए आत्मिक जीवनमूल्यों का प्रकटीकरण या अभिव्यक्ति जीवन में कैसे हो, मूल सत्य को प्रतिपल व्यवहार में कैसे गूंथा जाये इस का दिग्दर्शन गीता जी में है । उसी को अपनी अनूठी शैली में महाराज समझा रहे हैं ।

इतने प्रत्यक्ष प्रमाण सामने हैं कि देही का नाश नहीं होता, फिर मनुष्य को व्यामोह क्यों होता है ? मोह के कारण मनुष्य का चित्त इतना आकुल–व्याकुल क्यों होता जाता है ? जिस अज्ञान के कारण मोह होता है, उस में फँसे रहने का क्या कारण है ? वह है इन्द्रिया-धीन होना । जो व्यक्ति इन्द्रियों के अधीन है उसी को विषाद, अनिर्णय, अनिश्चय सताते हैं ।

'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं !'

इन्द्रियां हैं और अपना- अपना विषय–ग्रहण करती हैं, संवेदन बुद्धि तक पहुंचाती हैं, इस में तो कोई गुनाह नहीं, वह तो स्वभाव है उनका । दर्पण के सामने जो भी आयेगा उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ेगा ही । लेकिन आंख ने रूप देखा, वाणी सुनी, चित्त ने कहा कि बड़ा सुन्दर है । यहाँ तक तो वस्तु का वर्णन हुआ । वस्तु–शक्ति का प्रभाव एवं हमारी संवेदन–शीलता व रसिकता का मिलन हुआ । यह स्वाभाविक है । लेकिन चित्त आगे बढ़ता है कि मेरे पास यह नहीं है, मुझे चाहिये, थोड़ा समय नहीं हमेशा के लिये चाहिये । यहीं दोषबीज है । इन्द्रियारूढ़ मन विषय के अधीन हो गया । इच्छा होने तक एवं प्रामाणिकता से प्रयत्न कर के पा लेने तक भी दोष नहीं । किन्तु जब वह इच्छा इतनी प्रबल होती है कि सत्य–न्याय–धर्म से न मिले तो उन को छोड़ कर चाहे जैसे वह विषय हथियाने की वृत्ति उठती है, और मनुष्य को विवश बना देती है, वह अनर्थ है ।

सौन्दर्य–मात्र ग्रहण कर के रुक जाता है संयमी, उस का निर्दोष रसास्वादन भी कर लेता है रसिक, और वहीं सन्तृप्त हो कर रुक जाता है । किन्तु ९५% लोग इतने में रुक नहीं पाते । क्योंकि चित्त उस विषय का गुलाम बन जाता है । चित्त के पीछे दौड़ने लगती है बुद्धि । वह उस पराधीनता की वकालत करती है । तब मनुष्य को व्यामोह ग्रस लेता है । चित्त अशान्त अस्थिर हो जाता है ।–ऐसे इन्द्रियों के अधीन होना ही अज्ञान के बने रहने का कारण है ।

इस इन्द्रियाधीनता की एक प्रतिक्रिया होती है पलायन । चाही हुई वस्तु नहीं मिल सकती तो चलो छोड़ दो सब कुछ, चले जाओ गिरि-कन्दरा में ! मुंह मोड़ लो दुनिया से क्या जीवन से ही ! किन्तु वह रास्ता है कायरों का ! भारतीय संस्कृति को एवं अध्यात्मनामक जीवन विज्ञान को वह कतई स्वीकार्य नहीं । यहाँ उस की संगति नहीं । यहाँ तो 'विश्व प्रभु की काया है' इस विश्व में मनुष्यतनु में जीवन जीने का अवसर तो वरदान है प्रभु का । यहाँ रहना है सब सम्बन्धों के बीच । इस में जो

भी सामने आये उस का रसग्रहण करना है उस के आधीन नहीं होना है। यहाँ पुरुषार्थ चाहिये।

"हरि का मार्ग है शूरों का ही,
कायर का यहाँ काम नहीं ॥'–नरसी.
"शूर संग्राम को देख भागे नहीं,
देख भागे सो शूर नहीं।'–कबीर.

मनुष्य से अपेक्षा है स्वाधीन रहने की, पराधीन–इन्द्रियाधीन न रहे, आदतों का गुलाम न बने; गाफिल रह कर अन्धाधुन्ध व्यवहार न करे !

इन्द्रियाधीन व्यक्ति मोहग्रस्त होकर पागल अन्धे की तरह इधर–उधर दौड़ता–भटकता फिरता है। अन्तःकरण उस आधीनता की पकड़ में चला जाता है, बुद्धि पागल जैसी भ्रमित होती है। इन्द्रियाँ अपना–अपना विषय सेवन करती हैं तब चित्त उन से चिपक कर हर्ष–शोक पैदा करता है। उस में से व्यामोह पैदा होता है।

मान लीजिये गरमी या ठण्ड लगी, उस का इलाज जो अपने पास है उस से कर लिया। फिर भी चित्त शिकायत करता रहे दस बार कि बहुत गर्मी है, इस से बचने के लिये मेरे पास केवल पंखा है, पड़ोसी के पास तो कूलर है, खस के परदे हैं...तो एक ओर गर्मी से वितृष्णा का एवं बचने का भाव पैदा होता है दूसरी ओर पड़ोसी से ईर्ष्या का। ऐसे ही कुछ अनुकूल सुखद घटना हुई; अच्छा लगा, यहाँ तक स्वाभाविक है, किन्तु उस के प्रति प्रियता का भाव दृढ होता है, बारम्बार वह सुख मिले यह लालसा बढ़ती है।

इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध तो देह–प्रारब्ध का विषय है। उन यथाप्राप्त विषय–सम्बन्धों में से अपनी शरीरधारणा के लिये जितना आवश्यक है उतना ग्रहण करें, पर उस में हर्ष–शोक पैदा न होने दें। तो मोह नहीं होगा। यदि विषयों (वस्तु–व्यक्ति–परिस्थिति–घटना आदि) में हर्ष–शोक मानेंगे–प्रियता–अप्रियता का भाव पनपने देंगे तो चित्त अपने हाथ से निकल कर उसी विषय में चिपक (सङ्ग से आसक्त हो) जायेगा। तब अन्तःकरण उसी में डूब जाता है। यहीं संसारी का अटकना–भटकना प्रारम्भ होता है। और इन्हीं विषयों के बीच रहते हुए संयमी–विवेकशील व्यक्ति रसिकता से जीवन जीते चलते हैं, उनका चित्त स्वाधीन रहता है।

ये विषय एकनिष्ठ नहीं हैं अर्जुन ! इन का रूप एक ही जैसा हमेशा नहीं रहता, सतत बदलता है। हमें शरद् या वसन्त ऋतु प्रिय लगी। पर वह बारह महीने तो बनी रहेगी नहीं। फिर इन्द्रियों की विषय–सेवन की शक्ति भी एक जैसी नहीं रहती। इसलिये इन्द्रिय विषय–संयोग में गुणात्मक सातत्य की आशा नहीं रखी जा सकती। सारा जगत् नित्य–परिवर्तनशील है, सतत गतिशील है नदी के प्रवाह जैसा। ऐसे विषय–इन्द्रिय–संयोग से उत्पन्न होने वाले सुख–दुःख के साथ (डाँवाडोल करने वाले) हर्ष–शोक के भाव जोड़ना ही क्यों ? [जुड़ना–आसक्त होना ही हो तो अपनी उस गहराई से उस वस्तु के प्रति आसक्त होना चाहिये जहाँ व जिस में कभी परिवर्तन हो ही नहीं ! मीरा ने कहा था न ! कि मैं तो ऐसे वर को वरूँगी जिस से मेरा 'चूड़ला अमर हो जाय !"]

यथाप्राप्त विषय–संयोग में से गुजरो लेकिन चित्त में समधारणा एवं इन्द्रियों में सन्तुलन बनाये रखो। पल–पल में अच्छे–बुरे की भावना व प्रतिक्रिया पैदा न करें। वेग से अस्थिर चित्त में मोह–विषाद–भय इत्यादि बहुत जल्दी प्रवेश कर जाते हैं। एकनिष्ठता न होने के कारण वहाँ कभी सुख तो कभी दुःख बना रहता है। ...[बालक छोटा है, बहुत प्यार करती है माँ। माँ को बच्चे के बिना चैन नहीं पड़ती और बच्चा थोड़ी देर भी माँ के बिना रहता नहीं। वही कुछ बड़ा हुआ बारह–चौदह–सोलह साल का हुआ, अपने दोस्तों में, खेल–कूद में, पढ़ाई में मस्त रहने लगा, उस

को माँ के वैसे हरपल साथ की जरूरत नहीं रही; अब माँ यदि दुःख मानने लगे कि पहले तो मेरे बिना घड़ी भर नहीं चलता था अब पास ही नहीं आता ! और बड़ा हुआ, वधू घर आयी, तब अगर माँ दुःख माने कि बेटा मेरे पास तो बैठता ही नहीं–तो कैसी नादानी होगी ? माँ के लिये प्यार नहीं है ऐसा तो नहीं; लेकिन प्यार की अभिव्यक्ति के प्रकार बदल गये । इस नित्य-परिवर्तनशील जगत् के साथ मन की वृत्तियों के कदम नहीं बढाये जायेंगे तो अनर्थ होगा ।]

शब्दों की व्याप्ति का खेल देखो कि कभी इन में से निन्दा निकलती है तो कभी स्तुति इन स्तुति-निन्दा को शब्दों का खेल मात्र समझें तो दोनों का मजा लिया जा सकता है अन्यथा श्रवण द्वारा आने वाले इन्हीं स्तुति-निन्दा रूप शब्दों से द्वेष या राग उपजते हैं ।

कानों से जो शब्द सुनाई दिये वे सुन लिये उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अन्दर का धन्धा चालू न करें तो कुछ नहीं बिगड़ता । उस परिस्थिति में अपने द्वारा जो किया जाना आवश्यक एवं उचित है वह कर दिया । वह शान्त अक्षुब्ध चित्त और सन्तुलित इन्द्रियों से करो चाहे क्रोध से जलते-भुनते जैसे-तैसे करो, करना तो है ही । जीवन तो रुकता नहीं ।

[किसी व्यक्ति ने गांधीजी को बहुत [गालियां देते हुए खूब लम्बा पत्र लिखा, और स्वयं ही ही वह पत्र ला कर गांधीजी के हाथ में रख दिया । बापू पढ़ने लगे और व्यक्ति सामने खड़ा रहा । देखना था कि बापू क्या करते हैं ! बापू ने शान्ति से पत्र पढ़ लिया, उन कागजों में लगाई हुई 'पिन्' निकाल कर अपनी डिबिया में रख ली और कागज फाड़कर टुकड़े उसी व्यक्ति के हाथ में थमा दिये । वह देखता ही रह गया । कोई जवाब न निकला । आखिर पूछा—आपने पत्र पढ़ा ?' बापू ने कहा, "हाँ, पूरा पढ़ा । और उस में जो सार (लोहा एवं काम की वस्तु) था वह ग्रहण भी कर लिया ।"—मुस्कुराते हुए सब हुआ । क्योंकि उस में जो निन्दा और गालियों की बौछार थी वह झूठी थी, उस पर गुस्सा करने की जरूरत नहीं थी · यदि उस में कुछ सच होता तो बापू कह देते —"अच्छा हुआ तुमने यह लिखा; मुझे सीखने को मिला ।"

···मैं गान्धीजी का उदाहरण इसलिये देती हूँ कि वे कोई मठ-मन्दिर में बैठे हुए साधु-सन्त नहीं थे । रात-दिन घोर जनसम्पर्क में रहनेवाले व्यक्ति थे । राष्ट्र को स्वतंत्र बनाने का काम, अनेकों देशों के लोगों से सम्बन्ध, 'हरिजन' पत्रिका चलाना; अनगिनत काम ! उनके चित्त में यह समता आ सकी । जहर के घूंट जैसा पत्र सामने आया, अर्थ का ग्रहण भी हुआ, फिर भी चित्त निर्लेप रह सका ।—यह जीने की कला है । "योगः कर्मसु कौशलम्" !]

शरीर में स्पर्श-गुण है, [उस का संयोग कभी मृदु पदार्थ से होगा कभी कठिन से, उस में से सन्तोष और खेद पैदा करने का धन्धा न करो । जब जो सामने आया उसे जी जाओ । जीना यानी बिना शिकायत या बिना नशे के सम्बन्धों संयोगों में से गुजरते चले जाना । यदि शिकायत उठी, या मस्ती चढ़ी तो उतने पल आप जीवन से अलग हो गये समझना !

ऐसे ही कुछ भयानक देखा, कुछ सुन्दर दिखाई दिया । नेत्रों द्वारा इन से संयोग हुआ उस में से हम सुख-दुःख उपजाते हैं । सुगन्ध और दुर्गन्ध ये परिमल के भेद हैं । घ्राणेन्द्रिय से इनका सम्बन्ध आने पर मन में तोष (तुष्टि) या विषाद पैदा होता है ।···रस भी दोनों प्रकार के मिलेंगे, किसी से प्रीति होगी तो किसी से त्रास (कष्ट) होगा ।

कहना यही है कि विषयों का संग अपभ्रंश (स्वस्थान से च्युति, गिरना-फिसलना) का कारण बन जाता है यदि चित्त धीर न हो, स्थिर न हो ! प्रतिक्रियाओं के अधीन हो जाने वाले

चित्त को ही व्यामोह होता है । इस प्रकार अनेकों प्रकार के द्वैत में से, विपरीत परिस्थितियों में से गुजरना होगा । जीवन में विविधता को टाल नहीं सकेंगे, टालने या बचने की जरूरत भी नहीं । जीवन जीने की कला इस में है कि द्वैत में से द्वन्द्व पैदा नहीं करना !

कहीं आसक्ति या वितृष्णा–विरक्ति न हो। निर्द्वन्द्व, अक्षुब्ध, समभावशील चित्त से सभी संयोगों में से गुजरते चले जाँय !

देह में तो रहना है । इसलिये शीतउष्ण (विविध, विरोधी परिस्थिति–व्यक्ति–वस्तु–घटना आदि) से सम्बन्ध आने ही वाला है । उस समय अपनी ओर से यही करना है कि इन में से उपजने वाले सुख–दु:ख हम पर हावी न हो जायें । जब इन्द्रिय–विषय–सम्बन्ध आये, विषय–सेवन की घड़ी आये तब उसे स्वाभाविक प्रतिसाद दिया जाय, किन्तु उस घड़ी से पहले लालसा और सेवन के बाद जो उसका चिन्तन व ध्यास चलता है उसी में से 'सङ्ग (चित्त का विषय के साथ चले जाना) पैदा होता है जो आगे–आगे अनर्थ–श्रृंखला उपजाता चलता है । वही सुख–दु:ख में फँसा लेता है हमें ! प्रत्यक्ष विषय संयोग से पहले उसकी कल्पना द्वारा संग फिर सेवन के बाद स्मृतिजन्य संग, फिर बन्ध पैदा होता है । इस तरह विषय 'बन्धन' बन जाते हैं । अन्यथा, इन्द्रियां यदि अपने विषयों का सेवन–प्राप्त परिस्थिति, अपनी भूमिका एवं धर्म को समझते हुए–करें तो कहीं कुछ भी बन्धन या बन्धक (बाँधने वाला) नहीं ।

इन्द्रियों का स्वभाव है कि इन्हें विषयों के सिवा कुछ भी रम्य नहीं प्रतीत होता । यह स्वभाव इसलिये बना कि लाखों वर्षों से ही नहीं युगानुयुग से मनुष्य जाति इन्द्रियों द्वारा विषय सेवन करती आयी है । यही प्रशिक्षण मिला है हमें कि आँख में से चलकर दृष्टि की पाँख पर चढ़कर पदार्थ तक पहुँचना, उसके संवेदन ला कर अन्त:करण में उसका अर्थघटन (संस्कारों के अनुसार) करना फिर उस के आधार पर कुछ न कुछ (प्रतिक्रिया) करना ! यह गति (momentum) इन्द्रिय–मन–बुद्धि में भरा हुआ है ।

इसलिये यदि मनुष्य मूर्च्छित न हो, जागृति में हो तो इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है । इतना रमणीय अनन्त-वैचित्र्यसम्पन्न विश्व जो प्रभु ने बनाया है वह इन्द्रियों के लिये ही है । नेत्र–श्रवण–घ्राण–रसना त्वचा की शक्तियाँ प्रभु ने बनायी हैं और विषय भी प्रभुनिर्मित हैं ।

[इन का मिलन प्रकृतिजन्य है, उस में भी संस्कारिता का ऐश्वर्य विकसाया हमारे जीवनरसिक प्रभुप्रेमी पूर्वजों ने; रसग्रहण–आस्वादन की क्षमता प्रभुदत्त ही है । इसलिये इन्द्रिय–विषय–मिलन में अपवित्र कुछ भी नहीं ।

अपवित्रता एवं बन्धन उपजते हैं जब विषय–सेवन में से प्रियता–अप्रियता खड़ी करता है चित्त। कहीं चिपकना चाहता है और कहीं से दूर भागना, बचे रहना चाहता है । दोष इस चिपकने या भागने में है । इन्द्रियों में या विषयों में नहीं, इनके संयोग में भी नहीं ।

ऐसे श्रीज्ञानेश्वरी ग्रन्थ जीवन की पवित्रता का महान् सन्देश है, जीवनशिक्षक अध्यात्म है यहाँ; पलायन कतई नहीं, जीवन में रहो और जीना सीखते चलो !]

किन्तु विषयों के संयोग से होनेवाला सुख दु:ख स्वप्न में दिखे हाथी या जागृति में भी मृगजल दिखने जैसा आभास–मात्र है । अनुकूल-संवेदना (सुख) प्रतिकूल संवेदना (दु:ख) होंगी ही नहीं–यह नहीं कहा । स्वप्न में भी हाथी देखकर प्रसन्नता होगी, या वह पाँव तले दबाने आ रहा हो तो भय भी होगा, पर जागने पर दोनों नहीं रहेंगे । अनुकूलता–प्रतिकूलता शरीर के धर्म हैं, उन्हें बिना शिकायत या लालसा मोह के सहन करके धारण कर लिया जाय तो उन में से प्रियता–अप्रियता–मोह पैदा नहीं होंगे ।

ये विषय अनित्य हैं अर्थात् परिवर्तनशील हैं। जिसका रूप टिका नहीं रहता, ठहरता नहीं उसे अनित्य कहा। देश–काल–परिस्थिति के साथ साथ विषयों का रूप, उन से प्रतीत होनेवाली अनुकूलता—प्रतिकूलता, उनसे होने वाले सुख–दुःख का परिमाण—सब बदलता रहता है।

[इसी अनित्यता को बौद्ध दर्शन ने पकड़ाया था–'सर्वम् क्षणिकम्, सर्वम् दुःखम्'। वैदिक दृष्टि ने पकड़ा इस अनित्य के शाश्वत अधिष्ठान को। वह सुख–दुःख दोनों से परे है। परिवर्तनशील के क्षणिक संयोगों में चित्त को उन के प्रति आसक्त–विरक्त होने देना ही सुखाभास–दुःखाभास उपजाता है, इसलिये उनके कारणरूप 'संग' को ही छोड़ दो–ऐसा कहा गया। क्षणिक के साथ जाना, उस में रुक जाना छोड़ दो; जीवन सतत गतिमान् है उसकी लय में लय मिलाते आगे बढ़ते चलो तो सुख–दुःख अटकायें व गिरायेंगे नहीं। अतः सङ्ग का त्याग करो! विषय–संयोग के फलों में चिपक रहने की आदत को छोड़ दो। तो सब के बीच रहते हुए सब रसास्वादन करते हुए भी मुक्त (जीते जी मुक्त) रहोगे।] (श्लो. १३–१४, ओवी १११–१२२)

विषय—इन्द्रिय—सम्बन्ध की अनुकूलता–प्रतिकूलता में से शरीर को गुजरना पड़ता है, उस समय चित्त वहाँ फँसे नहीं। विषयों की अनित्यता समझ में आयी हो तो द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों में से आसानी से गुजरते जाते हैं, वहाँ जिनका चित्त विचलित नहीं होता; आकुल व्याकुल नहीं बना देता, अपनी पकड़ में नहीं ले लेता, उन्हें सुख और दुःख के द्वन्द्व का शूल नहीं चुभता।

महाराज समझा रहे हैं कि प्रारब्धप्राप्त जो विषयसंयोग मिलेंगे उनमें दो प्रकार के रस रहने ही वाले हैं; उन्हें समस्या न बनाओ और बहुत महत्त्व भी न दो कि 'यह अवश्य चाहिये; अमुक नहीं चाहिये, इसे लेकर रहूँगा, दूसरी फेंक दूंगा' –ऐसे रागद्वेष पैदा न करो। 'युध्यस्व विगतज्वरः" मानवीय सम्बन्धों में से ऐसे गुजरो कि राग–द्वेष का ज्वर पैदा न होने पाये। ऐसा जीवन रहे तो चित्त में एक ही दशा नित्य रहती है। वह व्यक्ति नित्यरूप हो जाता है, विषय भले अनित्य हों।

अर्जुन! और एक गहन बात कहता हूँ तुझे। ये जो अनित्य विषयरूप उपाधि (आकार, भार, रंग रस आदि गुणधर्म) हैं इनके भीतर भी छिपा हुआ चैतन्य ही विराजमान है। उसी के नूर से विषयों में रस झलकता है। प्रत्येक पदार्थ के सारभूत गुण–रूप में वह चैतन्य की सत्ता ही है। विषयों में छिपे उस चैतन्य को पहचान लेते हैं तत्त्वज्ञ सन्त। तभी तुकाराम ने गाया है न!—

'विषय सभी तो बने नारायण!
दिखता नहीं कहीं कुछ भी और!'

इसीलिये सन्तों को, नित्यरूप चित्तदशावाले व्यक्तियों को जब–जब विपरीत–द्वन्द्वात्मक (मान–अपमान आदि) प्रसंगों में से गुजारना पड़ता है तो वे उसमें से तत्त्व (चैतन्य) को ले लेते हैं, बाकी छोड़ देते हैं।

तत्त्व ग्रहण करने की वह कला सीख लो अर्जुन! कैसे? जिस प्रकार दूध में पानी मिला हो तो दोनों एकरूप हुए रहते हैं, किन्तु राजहंस उसमें से केवल दूध ले लेता है, पानी छोड़ देता है। बुद्धिमान् लोग खोट मिले हुए स्वर्ण को अग्नि में डालकर, खोट जलाकर शुद्ध स्वर्णमात्र निकाल लेते हैं। उसी प्रकार इस संसार में प्रत्येक घटना को ज्ञान के अग्नि में डालकर उस का विशुद्ध तत्त्वरूप ले लें बाकी सब छिलका—जाला आदि ज्ञानाग्नि में भस्मसात् होने दें।

यह विषयों से भरा विश्व मानो दही है, तुम सत्य–असत्य, आत्मा–अनात्मा की पहचान रूपी मथनी लेकर इस को मथो। उस मन्थन के अन्त में जो नवनीत दिखे वह ले लो! यह उपमा भी कठिन लगती हो तो और सरल देखो। अनाज पर भूसा है। तो अनाज फेंक नहीं देते न! उसे मसलकर भूसा अलग करते हैं फिर

सूप से फटक कर भूसा निकाल देते हैं अनाज ले लेते हैं। वैसे ही विषयों में अनुकूलता–प्रतिकूलता का जो भूसा है उसे तू फेंक दे और सच्चिदानंद सत्ता का जो सत्त्व है उसे ग्रहण करले।

[इसलिये प्रपञ्च—त्याग का अर्थ बाह्यत्याग नहीं है, विषयों से दूर भागना नहीं है। मन में जो राग–द्वेष का प्रपञ्च खड़ा होता है उसका त्याग करना है। प्रपञ्च भीतर है, बाहर नहीं। बाहर के विश्व को—विषयसमूह को—तो 'दही' कहा, 'धान्य' कहा, जो जीवन के धारक हैं। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" है तो विषयों को विष, बन्धन, त्यागने योग्य कैसे कहेंगे ?]

ऐसे विषयों में से चैतन्य को ही ग्रहण करने की कला सघ जाने पर प्रपञ्च (राग–द्वेषादि) सहज ही छूट जाता है, इस तरह भक्तों ज्ञानियों के पास तत्त्व शेष रहता है। इसीलिये अनित्य के प्रति उन्हें आस्तिक्य-बुद्धि नहीं रहती, वे नित्य एवं अनित्य का—अस्ति एवं नास्ति दोनों का निचोड़ (निष्कर्ष) पा चुके रहते हैं। उस नित्य में ही उनका चित्त स्थिर हुआ रहता है।

जो अनित्य है उसे भूले–चूके भी (ज्ञानी)—नित्य नहीं मानते, इसलिये वहां चित्त को चिपकने नहीं देते। अनित्यता पहचानते हुए उसके साथ व्यवहार करते हैं। व्यवहार सावधान-सुसङ्गत–सहृदय होगा, पर कुशलता है कि चित्त सदा नित्य में ही लगा रहता है। नित्य के साथ सम्बन्ध होने का परिणाम तथा अनित्य के संग का परिणाम—दोनों को वे देख चुके हैं। कुशल व सावधान हैं अतः अनित्य से चित्त लगने देकर अवश्यंभावी वियोग का दुःख क्यों ओढ़ेंगे ? [आत्मा—अनात्मा के साथ मनुष्य कैसे सम्बन्ध रखें, क्या तारतम्य रखें–यह समझा रहे हैं बड़ी मधुरता से।]

[श्लो. १५–१६–ओवी १२३–१३२]

मनुष्य–जीवन में सार–असार का विचार करते हुए बुद्धिमान हंस की भांति नीर–क्षीर–न्याय से आत्मतत्त्व का ग्रहण कर लेते हैं, अनात्मा में अपनी शक्ति-समय का अपव्यय नहीं होने देते। इस से आगे एक कदम बढ़ते हैं तो सार–असार का और विश्लेषण–चिन्तन करने लगे तो देखा कि जिसे हम असार कहते हैं वह भी तो वस्तुतः असार नहीं है। उसे असार–मिथ्या–माया मानना भी भ्रान्ति है। क्योंकि जो तत्त्व है वह कहीं एक क्षण के लिये प्रकट होता है तो कहीं एक घण्टे या और अधिक समय के लिये प्रकट होता है। जहाँ क्षण–दोक्षण के लिये भी तत्त्व प्रकट हुआ उसे असार क्यों कहें ? उसकी अवहेलना क्यों की जाय ? उसी क्षण में तत्व को पकड़लें, फिर यह आशा न रखें कि वह दस क्षण टिका रहे।

ऐसा मोह अवश्य असार है, वस्तु असार नहीं। पलार्ध के लिये जहाँ तत्त्व झलक दिखाता है वहाँ यह क्यों न समझें कि हमारी सावधानता की परीक्षा करने के लिये उस आधे पल में जीवन की सनातनता सिमटकर दर्शन देती है–विद्युल्लता की भांति। बालक जन्मा। कुछ महीने पालने में रहा, सालभर का हुआ खड़ा होकर डग भरने लगा; चार साल तक शैशव रहा। और चार साल तक पौगण्ड–अवस्था रही, फिर कुमार बना-चार साल बाद कौमार्य बीतकर किशोर हुआ, फिर युवावस्था आ गयी; बारह वर्ष यौवन खिला, फिर प्रगल्भ–प्रौढ़ावस्था में प्रवेश हुआ। इन पहली अवस्थाओं का आनन्द अपने आप में अनूठा रहा। वे बीत गयीं और प्रौढ़ बने, तब खेद न हो कि यौवन क्यों बीत गया ? वे सभी अवस्थायें आयी थीं बीतने के लिये ही। पर बीत जानेवाली हैं इसके लिये उन्हें असार क्यों कहें ? जब जो अवस्था दिखाई दे रही है–अनुभूत हो रही है उसका रस क्यों न चखें ? आनन्द क्यों न लें ?

यह नित्यता की लीला है कि वह अनित्य के रूप में–अल्प समय के लिये आती है, फिर–फिर रूप बदलती रहती है। रंगमंच पर कोई नाटक चल रहा है; उस में एक नट का अभिनय बहुत अच्छा लग रहा है। तब प्रेक्षक यदि कहें

कि बस वही नट मंच पर बना रहे, रुका रहे, दूसरे अभिनेता आयें ही नहीं–तो नाटक चलेगा कैसे ? नाटक रुक सकता है क्या ? वैसे ही जीवन है रंगभूमि । यहाँ जितने पदार्थ–व्यक्ति–घटनायें–परिवर्तन आदि हैं सब की अपनी–अपनी भूमिका है; वही भूमिका अदा करने उस रूप में सज–धजकर सनातनता सामने आयी है । एक के बाद एक अवस्थायें शरीर में आती गयीं, फिर उस शरीर की भी जरूरत पूरे नाटक में नहीं रही तो उसे समाप्त कर दिया । सृष्टि में ऋतुयें बदलने की तरह जीवन बदलता है । इस बदलाव को मिथ्या–असार क्यों कहें ?

जीवन की शाश्वती, अनन्तता (Eternity Infinity) ऐसी गजब की कलाकार है कि पलार्ध में भी पूरी की पूरी सिमट कर नये–नये रूपों में सामने आती रहती है ।

"क्षणे–क्षणे यन् नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयताया :" यह नित्य–नवीनता ही तो रमणीयता है ! उसे असार कैसे कहें ? हमारी परीक्षा है कि प्रतिपल प्रत्येक रूप में हर झलक में उसे निरख पाते हैं या नहीं ?

परिवर्तन के अभिनय में जो जीवन सामने आया है उसे पहचान लें तो चित्त उस नित्यता में लगा रहे और इन्द्रिय–मन–बुद्धि से परिवर्तन-शीलता का रसास्वाद भी होता रहे ।

[यह मधुर–अद्वैत ज्ञानेश्वर महाराज की अनुपम देन है दर्शन को, मानव–जीवन को ! जीवन से प्रेम करो ! सम्पूर्ण जीवन का समग्र स्वीकार करो । यहाँ कुछ भी निषेध या खण्डन करने लायक नहीं, अस्वीकार–योग्य नहीं । महाराज के हृदय की कोमलता को वह–'अनित्य, असार' शब्द भी चुभ गया । इसलिये कहते हैं कि किसी को भी असार कहना मुझे तो भ्रान्ति लगती है । सार देखने की कला नहीं आयी इसलिये 'असार' दिखा; यही भ्रान्ति है । सार तो वह स्वभावतः नित्य ही है । सच्चिदानन्दघन प्रभु से बनी हुई यह सृष्टि है । एक अखण्ड व्यापक चित्सत्ता में ही आनन्द के स्पन्द रूप में सङ्कल्प उठा–'एकोऽहं बहु स्याम्' कि बन गया यह अनन्त–नामरूपात्मक विश्व ! तो उस सच्चिदानन्द–घन तत्त्व के सिवा दूसरा कुछ हो ही क्या सकता है इस सृष्टि में ? इसलिये यह असार नहीं, माया–मिथ्या नहीं ।]

संसार में दो प्रकार के लोग हैं । एक वे जो इन्द्रियों से संवेदित होने वाले विषयों के पीछे दौड़ते हैं और इन के भीतर छिपा जो नित्य–सार तत्त्व है, अनन्त है उसे छोड़ देते हैं क्योंकि वह स्थूल दृष्टि को दिखता नहीं, इन्द्रियों की पकड़ में आता नहीं । और कुछ लोग हैं जो केवल अनन्त को पकड़ने के प्रयत्न में इस व्यक्त स्थूल इन्द्रियगोचर जगत् को छोड़ देते हैं । ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि छोड़ना किसी को भी नहीं । न अनन्त–अव्यक्त को छोड़ना है न ही व्यक्त–सान्त को ! शाश्वती को पकड़ना है तो पल को छोड़ नहीं देना है । समग्र–सम्पूर्णता को पकड़ना है किन्तु विशिष्टता को छोड़ना नहीं है ।

"मधुराद्वैत" (सच्ची भक्ति) नाम से कहा गया जो मानवजीवन का पञ्चम पुरुषार्थ (अन्तिम लक्ष्य) है उस का वैशिष्ट्य है कि **सम्पूर्ण जीवन का समग्र स्वीकार** करते हुए कैसे जिया जाय ! प्रतिपल जागते सोते–उठते-बैठते–प्रत्येक कर्म या व्यवहार करते समय चित्त की दशा कैसी रहे ! नित्य का अभिध्यान व अनुसन्धान न छूटे, साथ ही अनित्य के साथ का प्राप्त सम्बन्ध एवं अपेक्षित–उचित प्रतिसाद भी छूटे नहीं । (क्रमशः)

[महाराज कहते हैं–] ऐसा लगता है कि इस व्यक्त विश्व की असारता भ्रान्ति है । इस का सार तो स्वभावतः नित्य है । "पुरुष" और "प्रकृति" दोनों अनादि–नित्य हैं, पृथक् नहीं रह सकते ।

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

शिव और शक्ति को, नित्य एक एवं अनित्य दिखते नाना नामरूपात्मक विश्व को अलग नहीं किया जा सकता । 'ब्रह्म सत्य' और 'जगत् मिथ्या' ऐसे दो अलग विभाग नहीं कर सकते । [इसी से प्रभावित होकर विनोबाजी ने लिखा था–"ब्रह्म सत्यं जगत् स्फूर्तिः जीवनं सत्यशोधनम्"–जीवन का प्रयोजन उस सत्य का शोधन (खोज) करना है जिस की स्फूर्ति या उन्मेष है यह सम्पूर्ण जगत् ।]

यह–लोकत्रय (ऊपर, मध्य एवं नीचे के स्तरों में बाँट कर देखी गयी निखिल सृष्टि) के आकार में जो अपने सामने प्रकट है, जिसका यह समस्त प्रस्तार है, स्वयं उसका निजी कोई भी नाम, वर्ण (रूप) आकार जैसा चिन्ह नहीं है । सब कुछ के रूप में वही सजा हुआ है, उसका कोई एक विशिष्ट नाम—रूप–आकार–चिन्ह नहीं हो सकता ।

[मनुष्य की बुद्धि चकरा जाय ऐसी बात कह रहे हैं । जो कुछ भी है सब वही है, 'सर्व' से कम कोई विशिष्ट चिन्ह उसका नहीं जिसे पकड़ा जा सके । उपासना रूपी सोपान चढ़ने के लिये पहले पहले 'विशिष्ट सगुण–साकार' का अवलम्ब लिया जा सकता है पर वहीं बैठ नहीं रहना है। क्योंकि वह सर्वगत है, सर्वदा है ।]

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

सब के भीतर–बाहर वही है । जहाँ कहीं भी मन से, बुद्धि से, शरीर से जाने की कोशिश करोगे वहाँ तुम्हारे पहुँचने से पहले वह पहुँचा ही हुआ है । सर्वदा सब कुछ में ओतप्रोत, सर्व में स्थित है । उसे भला एक नाम–रूप में कैसे बांध सकोगे ? उपासना के लिये, अपने सन्तोष के लिये चाहे जो नाम पकड़ो, किन्तु यह न कहो कि यही एक नाम, या रूप या स्थान उस का है । उस का जन्म–मरण कैसा ? निराकार आकाश (अवकाश) में हम मकान बनाते हैं; उन दीवारों से आकार बनते हैं, लेकिन उस से मूल आकाश में तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता । दीवारें खड़ी हों या तोड़ दी जायें, नमूने बदल दिये जायें, इस से आकाश में कोई अन्तर नहीं आता । उत्पत्ति और क्षय आकारों का होता है, निराकार का नहीं । उस पर कोई प्रहार नहीं हो सकता ।

इसलिये हे अर्जुन तू समझ ले कि जैसे तेरे शरीर के भीतर तेरा सत्त्व (आत्मा) नित्य है, वैसे ही इन गुरुजनों व सम्बन्धियों के शरीरों में भी अन्तःस्थित आत्मा नित्य है । उस पर तेरा प्रहार नहीं होगा । तेरे शस्त्रों से घात होगा शरीरों का, जो अनित्य ही हैं ।

[श्लो. १७, ओवी १३३–३५]

"शीर्यते इति शरीरम् " क्षयशील होने के कारण ही देह को शरीर कहा गया है । और यह अटल युद्ध–स्थल है । नाशशील शरीरों के नाश की चिन्ता करना यहाँ उचित नहीं इस लिये हे पाण्डुकुंवर ! (क्षत्रिय होने के नाते) लड़ना तेरा धर्म है ।

१

देहाभिमान, देहतादात्म्य या अध्यास के कारण तू अपने को केवल देह मान रहा है और सामने वाले सब को भी देहरूप ही देख रहा है। इसीलिये तेरी दृष्टि देह के आगे, पार नहीं जाती। देहाभिमान से ग्रस्त होने के कारण तू मान रहा है कि "मैं मारने वाला हूँ, ये मरने वाले हैं"। अरे अर्जुन तू मूलवस्तु जानता नहीं इसीलिये इस भ्रम में पड़ा है। जरा तत्त्व का तो विचार कर !

स्वप्न में कुछ दिखता है, तब वहाँ (स्वप्न में) तो वह सच ही लगता है, स्वप्न–चेतना में देश–काल–सम्बन्ध जागृत चेतना की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होते हैं, वहाँ की सब सृष्टि ही अलग होती है। लेकिन जाग कर देखो तो वहाँ कुछ भी नहीं होता है। अब सोचो कि जागृति में देखा हुआ सच है या स्वप्न में देखा हुआ ? स्वप्न का सच लगना स्वप्न तक ही सीमित है, जागृति में उस के मिथ्यात्व का बोध होता है। वैसे ही तू व्यर्थ भ्रमित हो रहा है। तू जो शस्त्र–प्रहार करने वाला है वह शरीरों पर ही होगा न ! जैसे छाया पर किया गया प्रहार मनुष्य को नहीं आहत करता, वैसे ही तेरे शस्त्र आत्मा को स्पर्श नहीं करेंगे।

कोई घड़ा जल से पूरा भरा हो, उस में सूर्य का प्रतिबिम्ब सुन्दर स्थिर दिख रहा हो, उस घड़े को उलट कर खाली कर दें, तब सूर्य उस में नहीं दिखेगा, लेकिन क्या सूर्य नष्ट हो हो गया ? पानी के साथ बह गया ? नहीं; सूर्य को तो न घड़े का, पानी का स्पर्श हुआ था न वह नष्ट हुआ; सूर्य जहाँ पहले था वहीं अब भी है। ऐसे ही देह के मरने या आहत होने से आत्मा का नाश या हानि नहीं।

और बड़ा दृष्टान्त लेते हैं कमरे (मठ) में आकाश है। कमरे की दीवारें व छत गिरा दी गयीं, तब भी आकाश जैसा था वैसा ही, वहाँ ही रहा। केवल कमरे की आकृति का आरोप आकाश में जो किया जा रहा था वह नहीं रहा। वैसे ही शरीर का लोप (नाश) होने पर भी आत्मा (स्वरूप) का लोप नहीं होता। भैया ! तू अपने कर्म में इस भ्रान्ति का आरोप कर के चिन्तित हो रहा है, वह भ्रान्ति व चिन्ता छोड़ दे।

[श्लो, १८–२१ ओवी १३६–४३]

जैसे फटे–पुराने वस्त्र उतारकर नये दूसरे वस्त्र पहने जाते हैं, वैसे ही चैतन्यनाथ (आत्मा; समस्त सृष्टि को सत्ता व चैतन्य की एक ही डोरी से नाथनेवाला, भिन्न–भिन्न असंख्य दिखने वाले नाम–रूपों में अनुस्यूत एकमात्र अद्वितीय तत्त्व) द्वारा दूसरे–दूसरे शरीर स्वीकार किये जाते हैं। [अधिकतर 'कर्मणि' प्रयोग करना 'महाराज' की वाक्‌शैली की विशिष्टता है।] मृत्यु में जीवन रुकता नहीं, थमता नहीं, समाप्त नहीं हो जाता।

ये चैतन्यनाथ कैसे हैं ?–अनादि हैं, नित्यसिद्ध हैं। अर्थात् पदार्थविज्ञान व न्यायशास्त्र आदि की तर्कपद्धति से प्रत्येक कार्य के कारण व प्रारम्भ का विचार करने जाओ तो कुछ नहीं मिलेगा। चैतन्य स्वयं सब कुछ का अनादि, स्वयंसिद्ध अविकृत कारण है। दूध से दही बनता है, पर तब वह दूध नहीं रहता। दही में से मक्खन, फिर घी बनता है, पर वह वापस पहले रूप में नहीं आ सकता। कार्य के रूप–गुण–धर्म बदल जाते हैं। किन्तु हमारे प्रभु कैसे हैं ? वे कारण एवं कार्य रूपों में स्वयं ही व्यक्त होते हैं. किन्तु प्रभु की अद्वितीयता सच्चिदानन्दमात्रता (शुद्धसत्ता, चित्, आनन्द स्वरूप होना) में कोई अन्तर नहीं आता।

जगत्–रूप से व्यक्त होने में उनकी अव्यक्तता-अनन्तता, अखण्ड अद्वितीयता, चिन्मयता, 'रस'-स्वरूपता सत्तामात्रता आदि स्वरूप में कोई दोष नहीं आता; 'ब्रह्म' 'शबल' नहीं हो जाता। वह तत्त्व यथावत् 'निरुपाधि विशुद्ध' ही रहता है।

[Physics की भाषा में कहें तो—The causeless cause of Criation, The absolute ground of existense, which gets activated in the form of energy, It is selfwilled.]

[यह मौलिक अभिव्यक्ति है ज्ञानेश्वरमहाराज की, जो परम्परागत अद्वैतदर्शन से आगे का कदम है। आम को देखें। विशिष्ट मधुर सघन रस भीतर कड़ी गुठली व बाहर नरम किन्तु कुछ कड़े छिलके के बीच में सजा-सँवरा स्थित है। छिलके से लेकर गुठली तक पूरा फल ही 'आम' कहलाता है न ! वैसे ही 'अनादि, नित्यसिद्ध, निरुपाधि, विशुद्ध" परमतत्त्व 'चैतन्यनाथ' ने ही ये समस्त आकार, वर्ण, नाद, रूप-गन्ध-स्पर्श आदि प्रगटाये हैं अपने में से ही; या इन रूपों में स्वयं को ढालकर फिर स्वयं ही 'नामी' 'रूपी' 'देही' बने हैं, व्यक्त हुए। पदार्थ बने। पद का अर्थ प्रगट करनेवाले भी बने। किन्तु यह सब होने में स्वयं औपाधिक नहीं बन गये।]

[श्लो. २२-२४, ओवी. १४४-४५]

इसलिये शस्त्रादि से उसे काटा या उड़ाया नहीं जा सकता। इन देहों का नाश शस्त्रों से होगा तो (यदि प्रयोजन हुआ तो) आत्मा दूसरे आकार धारण कर लेगा। प्रलय-सागर में भी शक्ति नहीं आत्मा को डुबा देने की। अग्नि में शक्ति नहीं उसे जलाने की। वायु उसे सुखा या उड़ा नहीं सकता। वह तो नित्य है, अचल है, शाश्वत है, सर्वदा प्रकट एवं परिपूर्ण है।

[चैतन्यनाथ ऐसे हैं तो उन्हें देखा कैसे जाये ? कैसे पहचानें ? कैसे सम्बन्ध बैठायें ? इस प्रश्न की स्फुरणा अर्जुन के चित्त में देखकर वासुदेव कहते हैं-] उसे तर्क की दृष्टि से देख नहीं पाओगे। तर्क रूपी ज्ञानसाधन में भी क्षमता नहीं कि आत्मा को दिखा सके। तर्क छोड़कर ध्यान में बैठोगे, तो भी उत्कण्ठा रूपी बाधा आयेगी। देखने की उत्कण्ठा ही परदा बन रहेगी बीच में। वह मिलन नहीं होने देगी। [मिलने की उत्कण्ठा, आतुरता, आकांक्षा, प्यास, तड़पन व अधीरता भी बाधा बनेगी। 'ध्यान करनेवाला' बचा रहेगा और 'ध्यान' को 'मिलने' का साधन मानेगा, तो भी काम नहीं बनेगा। मिलन की आर्त्तता ही महीन गहन परदा बनकर आड़े आती है। 'ध्याता' बना रहता है उस आर्त्तता के बाने में। वह भी जब न रहे, केवल 'ध्यान'-मात्र रहे, 'ध्याता' 'ध्यानरूप' हो रहे, तभी मिलन सम्भव है।]

मन के लिये तो वह चैतन्य या परमात्मा परम सत्ता सदा दुर्लभ है। [सब इन्द्रियों को साथ लेकर मन पूरे जोश से कितना भी प्रयत्न करे, अतीन्द्रिय अनुभूतियों से आगे वह बढ़ नहीं पायेगा।] सर्वत्र, सर्वदा, सर्वगत होने के कारण मन की विशिष्ट व सीमित अनुभूति-शक्ति की पकड़ में आत्मा आ नहीं सकता।

साधना के नाम से यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र की योग-प्रक्रियायें करो, हठयोग, नादयोग, लययोग अपनाओ, किसी भी साधना से आत्मा को सिद्ध या प्राप्त नहीं कर पाओगे। साधनाओं की पहुँच नहीं है वहाँ। क्योंकि साधना करनेवाला 'साधक' शेष रह जाता है, तो वह तत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

वह गुणत्रय से रहित है, अनादि, अविकृत, सर्वरूप है, यह जानो और सकलात्मक है ऐसा देखो। तब तुम्हारा शोक सहज ही दूर हो जायेगा।

[हम जान लेते हैं, 'विश्वव्यापी है, घट-घटवासी है'-बोलते भी हैं, लेकिन व्यवहार में 'सकलात्मक' रूप को देखने व तदनुसार जीवन जीने का साहस नहीं जुटाते। वहाँ तो उसे सीमित रूपों में ही बाँधकर अपनी रुचि-अरुचि आरोपित करते हैं। अपने चित्त के अनुकूल छोटे-छोटे घरौंदे बनाते हैं।

चित्त सर्वात्मकरूप से बचना चाहता है। इसीलिये शोक पालता रहता है। वास्तव में मोहनिरसन चाहता ही नहीं चित्त। (क्योंकि तब तो चित्त व अहंभाव रह ही नहीं पायेगा।)

शब्दों की मदद से बुद्धि द्वारा जानना–यह प्रारम्भ है साधना का। इस के बाद शाब्दिक ज्ञान को पचाकर बोध में परिणत करना फिर उसे व्यवहार में प्रत्यक्ष देखना–यह क्रम है। शब्द व बुद्धि द्वारा परोक्ष दर्शन होता है, उसे प्रत्यक्ष तक न पहुँचाये तो वह व्यर्थ ही नहीं रहता बल्कि हानिकर भी हो सकता है (झूठा अभिमान बढ़ा सकने से)। उस से तुष्टि–पुष्टि नहीं मिलती। सत्य के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के बाद स्पर्श, फिर सम्बन्ध हो पाता है। वह न हो तब तक शोकहरण हो नहीं सकता।]

[श्लो. २५ ओवी १४६–५०]

ऐसे सदोदित सर्वगत नित्यशुद्ध निरुपाधि स्वरूप को यदि तू नहीं जानता; उसे अन्तवाला (सान्त, सीमित) ही मानता है (क्योंकि तेरा जानना–मानना इन्द्रियों तक ही सीमित है) इसलिये देह–जन्म से जीवन का प्रारम्भ और मरण में उसका अन्त देखता है; आकारों के उत्पत्ति–वृद्धि–क्षय–नाश को चरम सत्य मानकर सारी सृष्टि को नाशशील ही मानता है—तो भी शोक करना उचित नहीं है। क्योंकि जिस का जन्म हुआ उसका अन्त भी होने ही वाला है। लाखों–करोड़ों वर्षों से यही चक्र चलता आया है। फिर भी जन्म रुका नहीं है। [गङ्गा निकली गोमुख से; भागीरथी बनी, गंगा कहलाती हुई भी हरिद्वार–प्रयाग–काशी–पटना आदि पथ से चली; गङ्गासागर में आकर समा गयी समुद्र में। किन्तु प्रतिदिन यह समा जाना होते हुए भी गंगा का प्रवाह कभी रुका नहीं। हजारों वर्षों से सतत गंगा–यमुना आदि बह ही रही हैं। गोमुख में प्रारम्भक प्रवाह है नन्हासा–मुठ्ठी भर भी चौड़ाई नहीं। वह उतना सा स्रोत पथ में आते सब प्रवाहों को अपने में समाता चलता हुआ क्रमशः भागीरथी बनता है एवं प्रयाग से आगे केवल गङ्गा–मैया का सुविशाल व्यक्तित्व बनकर अन्त में महासागर में समा जाता है। लेकिन इस से मूलस्रोत समाप्त नहीं होता, न विशाल प्रवाह थमता है।

वैसे ही मनुष्य का एक बार जन्म हुआ फिर वह मर गया तो दूसरे मनुष्य जन्मे नहीं–ऐसा कभी नहीं हुआ।] जीवन का सातत्य गंगा के प्रवाह जैसा ही नित्य अखण्डित अनुस्यूत है।

अर्जुन! तू व्यक्तिगत रूपों व देहों के साथ घटने वाली जन्म–मरण की घटनाओं को देखकर इतना शोक–मोह–ग्रस्त हो रहा है, पर जगत् के समग्र चित्र की ओर तो देख! सत्य तो यह है कि जीवन का अन्त होता नहीं; देहों का अन्त होता है तो पुनः जन्म भी होता ही है। जो कुछ भी व्यक्त हुआ है उसका 'आदि–स्थिति–अन्त'–यह क्रम अटल है, इस क्रम या प्रवाह के रूप में वह नित्य ही है। अव्यक्त में से प्रारम्भ है, व्यक्त स्थिति है पुनः अन्त में अव्यक्त हो जाना है।

[इसे आधुनिक भाषा में कहें तो—Simultaneity of life and death in existence sequence है। वहाँ वस्तुतः क्रम sequence नहीं, बल्कि उत्पत्ति–स्थिति–लय एक दूसरे में गुंथे हुए एक साथ चलते हैं। शरीरवैज्ञानिकों से पूछिये तो जान पायेंगे कि शरीर संरचना (Metabolism–Mechanism) में नयी उत्पत्ति व पुराने का क्षय सतत चलता ही रहता है। प्रत्येक सात वर्ष में सम्पूर्ण शरीर के सभी अणु–परमाणु एक बार बदल जाते हैं। आयु के पहले तीस वर्ष तक तो शरीर (मन) की संचरना में नित्य प्रति होने वाली वृद्धि (growth) प्रत्यक्ष दिखाई भी देती है। (यदि बीच में ही विरोधी आहार–विहार न करने लगे हों तो) कुछ समय ठहर कर फिर क्षरण भी वैसी ही स्वाभाविकता से प्रारम्भ होने लगता है।

जीवनीशक्ति का सम्यक् पालन, जतन (conservation of energy & vitality) करने की कला साधी हो तो सतत चलता रहता है। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को हम अपने शरीर में एक साथ वर्तमान व गतिशील देख सकते हैं। योगी इसे देख पाते हैं।]

गोमुख-हिमशिला (ग्लेशियर) में प्रवाह अव्यक्त है, नन्हा-सा-स्रोत निकलता है। वह कभी खण्डित नहीं होता। पथ में आगे बढ़ता वह विशाल होता जाता है अन्त में समुद्र में समा कर पुनः अव्यक्त हो जाता है, किन्तु प्रवाह कभी भी खण्डित नहीं होता। उसी प्रकार जीवन में जो प्राणियों के उत्पत्ति-स्थिति-लय दिखते हैं वे गंगाजल के प्रवाह जैसे अनुस्यूत अखण्डित हैं।

भैया अर्जुन! मेरी बात ध्यान देकर सुन ले। पञ्चमहाभूतों का अव्यक्त सृष्टि के रूप में प्रकट होना और पुनः अव्यक्त हो जाने का क्रम अनादि काल से आज तक कभी भी रुका नहीं है।

[जन्म-वृद्धि-मृत्यु तीनों को एक साथ एक ही जीवन प्रवाह के रूप में देखना यह ऋषियों की करामात है। संवेदनशीलता एवं सर्वग्राही अवधान की दृष्टि से वे देखते हैं। इसीलिये व्यक्तिगत मृत्यु या दुःख-कष्ट का उन्हें कोई विशेष शोक-मोह नहीं होता। यह नहीं कि वे पत्थरदिल होते हैं। किन्तु यथाप्राप्त हर्ष-शोक के क्षणों में आये आँसू या मुस्कान को वे उसी क्षण गहराई से जी लेते हैं और अगले क्षण आगे बढ़ जाते हैं। घटनाओं में से कोई घर्षण पैदा करनेवाली ग्रंथि उनके चित्त में नहीं बनती।]

इसलिये भीष्म-द्रोण-कृपाचार्य आदि की मृत्यु होगी—इसका शोक करने की आवश्यकता नहीं। यह तो पंचमहाभूतों की अनादि स्थिति है, सदा से यही होता आया है। इतना ही करो कि वैयक्तिक घटनाओं को समग्र प्रवाह के एक-एक अंग की तरह देखो, अलग कर के न देखो। किसी छोटे बर्तन में गंगाजी से जल लेकर अलग रख दोगे तो वह गँदला जायेगा, सूख जायेगा, समाप्त हो जायेगा। लेकिन गंगाजी का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। वैसे ही व्यक्तिगत घटनाओं को समग्र जीवन-फलक के अवयवों के रूप में देखेंगे तो शोक-मोह नहीं होगा।

अथवा, अर्जुन! मेरी यह बात भी तेरे गले न उतरती हो, जँचती न हो, तो अन्य प्रकार से देख, आगे चल!

क्या तू मानता है कि भूतमात्र के ये जो जन्म वृद्धि-क्षय हैं ये तेरे या किसी के अधीन हैं? वश में हैं? अव्यक्त में से व्यक्त में आना फिर वापस अव्यक्त में लौट जाना-यह तेरे कुछ करने या न करने से रुकेगा? अरे समस्त लोक (जो भी व्यक्त में आया है वह) जन्म-क्षय के अधीन है। इन दो बिन्दुओं में बँधा हुआ है। इतना यदि तू देखेगा तो तेरा शोक व्यर्थ है यह समझ पायेगा। जो बात अपने वश की नहीं उस के लिये शोक क्या करना? देखो भाई! जन्म मृत्यु तो अनिवार्य अपरिहार्य तथ्य हैं। किसी के द्वारा टाले नहीं जा सकते।

[श्लो. २६, ओवी १५१-५८]

जो किसी एक बिन्दु (देश, काल) पर उत्पन्न होता है, उसका किसी बिन्दु पर नाश होना भी अटल है। और जो नष्ट होता है वह पुनः किसी न किसी रूप में प्रगट भी होता ही है। जैसे गहरे कुएं में चलते रहट (घटिकायन्त्र, छोटे घड़ों की माला) के घड़े या पात्र बारी-बारी से ऊपर-नीचे आते-जाते हुए घूमते रहते हैं, भर कर ऊपर आते हैं खाली होकर नीचे जाते हैं फिर-फिर भरते व खाली होते रहते हैं।

[और भी स्पष्ट सटीक उदाहरण देते हैं] अथवा, सूर्य के जैसे उदय-अस्त अपने आप होते रहते हैं, वैसे ही जीवों के जन्म-मरण को जगत् का अनिवार्य तथ्य समझ लो। वस्तुतः सूर्य का न उदय है न अस्त, न वह गतिशील है। किन्तु देखने वालों के देश-काल-मान के अनुसार सूर्य

प्रतिदिन पहले उदित होता दिखता है फिर प्रखर होता है और संध्या समय अस्त होता दिखता फिर दिखता नहीं तब तक अंधेरा (रात्रि) रहता है। सूर्य अस्त हुआ तो क्या दुःख मनाने बैठेंगे। और उदित हुआ तब जन्मोत्सव मनायेंगे ? वह जैसे नादानी होगी वैसे ही जन्म–मरण को अतिशय महत्त्व देना, उसके लिये हर्ष–शोक में पागल होना नादानी है। मृत्यु को जीवन की गति से बाहर अमंगल–अभद्र–अशुचि न मानो। वह तो अनिवार्य है।

[जीवनचक्र को देखने की जो प्राचीन भारतीय दृष्टि है उसमें महाप्रलय का भी एक पर्व माना गया है जब सारा का सारा विश्व लय हो कर लोप हो जाता है। पंचमहाभूतों की सब विशिष्ट व संकुल अभिव्यक्तियाँ अपने अपने उपादान–कारणों में लौट आती हैं कार्यरूप लुप्त हो जाते हैं फिर पंचमहाभूत भी उसी क्रम से एक–दूसरे में लीन होते हुए अन्त में अव्यक्त प्रकृतिमात्र में समा जाते हैं और प्रकृति समाती है परम तत्त्व (Absolute ground of Existance) में। उसी सन्दर्भ का उल्लेख करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज वासुदेव–मुख से कह रहे हैं—]

महाप्रलय के अवसर पर त्रैलोक्य (समस्त सृष्टि) का संहार हो जाता है। 'सम्यक् आहरण' यानी भलीभाँति सुषम रीति से अपने आप में खींच या समेट लिया जाना, बाहर फैलाये हुए को भीतर समेट लेना। ऐसा विधायक अर्थ है 'संहार' शब्द का; नकारात्मक 'विध्वंस' नहीं कहा गया। परमसत्ता अपनी समस्त अभिव्यक्ति को महाप्रलय के अवसर पर अपने आप में वापस समेट लेती है। ध्वंस या विनाश नहीं हो जाता, समाप्त नहीं होता कुछ भी। जीवनतन्तु बना रहता है जो पुनः सृष्टि के उत्सर्ग में प्रकट होता है। इसीलिये आदि–अन्त का परिहार नहीं, यह क्रम खण्डित नहीं होता। यह सब तो तू वस्तुतः जानता ही है, अबूझ–अज्ञानी तो नहीं है, फिर क्यों ऐसा अनजान बन कर शोक कर रहा है ?

अच्छा, यह बात भी समझ में नहीं आती है ? तो चल और एक प्रकार से समझ ले। पार्थ ! तुझे दुःख करने का कोई भी कारण नहीं है यह और एक दृष्टि से बताता हूँ।

[एक तो भक्त जिज्ञासु के प्रति भगवान् का असीम प्यार उमड़ रहा है, उस पर उसे व्यक्त करने में वाणी को लाड़ लड़ा रही है किशोरवय में ज्ञानेश्वर महाराज की दुलारभरी शैली ! फिर वर्णन-रस का क्या पूछना ?]

(श्लो. २७, ओवी १५९–६३)

ये सब भूत मात्र (सचराचर निखिल सृष्टि) जन्म ले कर मूर्त (साकार व्यक्त) होने से पहले कैसे थे ? कहाँ थे ? ये अमूर्त थे; परमात्म-सत्ता में लीन थे। इन में व्यक्तित्व नहीं था, अव्यक्त सत्ता मात्र थी। फिर जब इनका जन्म हुआ तब आकार पाया। तब ये व्यक्त व्यक्ति कहलाये। इस घटना को ही 'जन्म' कहा गया। अब ये जो व्यक्त हैं ये वापस जब मूलसत्ता में लीन हो जाते हैं उसे भाषा में कहा जाता है क्षय या मृत्यु ! वास्तव में तो जीव जिस सत्ता में से आया था उसी में वापस लौट जाता है नष्ट नहीं होता, समाप्त नहीं होता।

[पचीस वर्ष पहले मथुरा में स्वामी शरणानन्दजी की अध्यक्षता में हमारे प्रवचन चल रहे थे, तब किसी ने स्वामीजी को प्रश्न पूछा था—'महाराज ! मृत्यु के बाद जीव कहाँ जाता है ?' उन्होंने कहा—"जहाँ से आता है वहीं जाता है"। तब लगा था कि इतना संक्षिप्त उत्तर क्यों दिया ! लेकिन उनकी बात शत–प्रतिशत सही थी। अव्यक्त सत्ता में से आता है, उसी में लौट जाता है—यही उन का आशय था।

व्यक्त जगत् तो सराय (धर्मशाला) है। यह स्थायी निवास नहीं। चार दिन के लिये

आये या सौ-पांचसो वर्ष के लिये; चिरस्थायी यहाँ कोई न हुआ, न हो सकता है। भारतीय धारणा में चिरञ्जीवि रूप में जिनकी कल्पना है वे (सनकादि, ध्रुव, हनुमान्, दत्तात्रेय आदि) भी अमूर्त रूप में ही रहते हैं, हाँ उनका निदिध्यास रखें, उन्हें उसी विशिष्ट रूप में देखना चाहें तो पल-दो पल के लिये वे उन रूपों में (materialise हो कर) आ भी सकते हैं, किन्तु स्थायी रहते नहीं। यह जीवनगति समझा रहे हैं। कि] अर्जुन ! ये सब जन्म द्वारा जहाँ से आ कर व्यक्त होते हैं, कुछ ही समय व्यक्त रह कर मृत्यु द्वारा वापस उसी सत्ता में अपनी पूर्व स्थिति में लौट जाते हैं।

मध्य में जो प्रतिभासित होते हैं—(यहाँ खास अद्वैत वेदान्त की परिभाषा ले ली—वहाँ व्यक्त को प्रातिभासिक सत्ता कहा गया है, जो दिखनेभर को है वस्तुतः जिस की सत्ता नहीं, निरपेक्ष सत्ता नहीं, देश-काल-व्यक्ति सापेक्ष प्रकटीकरण है।] उनकी सत्ता (व्यक्त रूपों की सत्ता) स्वप्नसृष्टि जैसी है। स्वप्न में दिखने वाला सब कुछ जैसे स्वप्न तक ही मर्यादित है, वैसे ही व्यक्त-रूपता जन्म व मृत्यु नामक बिन्दुओं के बीच की स्थिति तक ही मर्यादित है।

पवन ने नीर को स्पर्श किया। इस से नीर तरङ्गाकार हुआ। या सुवर्ण ढेले जैसा था, दूसरों की इच्छा व प्रेरणा से सोनार ने उसे आभूषणों का रूप दे दिया-माला-कंगन-कर्णफूल-बना दिया। ऐसे ही वासनाओं के कारण जीव को बारम्बार जन्म लेना पड़ता है शरीर धारण करना पड़ता है। [सन्त तुकाराम ने गाया है--

"जन्म घेणे लागे वासनेचा संगे।

तेचि झाली आंगे हरिरूप !"—ऐसे जब वासना प्रभुमय हो जाती है तब जन्म-मरण हो या न हो उनका द्वन्द्व-दुःख अवश्य मिट जाता है।]

और भी देखो, गगन में जैसे अभ्रपटल (बादलों के दल) आते हैं वैसे चैतन्य-सत्ता पर यह व्यक्त जगत् छा जाता है। बादलों में में कितने ही आकार बनते-बदलते रहते हैं पर उन आकारों में कोई तथ्य नहीं होता, सत्यता तो कहाँ ? वैसे ही व्यक्तजगत् मायाकारित है। मेघों के आने, गरजने-बरसने या यों ही तरह-तरह की चहलकदमी करते हुए विविध दृश्य दिखाने से आकाश में कोई अन्तर नहीं आता, वह भीगता नहीं, मलिन नहीं होता, भर नहीं जाता न झुलसता है। वैसे ही व्यक्त जगत् रूपी गुण-क्रिया-प्रसार से चैतन्य सत्ता पर कोई दोष या लेप नहीं लगता। वह निरामय ही रहती है। अरे धीर अर्जुन ! जो वस्तुतः मूल में है ही नहीं (जिस को अपनी कोई सत्ता ही नहीं) उस व्यक्त रूपों के जाने-आने को इतनी बड़ी समस्या बना कर, तूल दे कर, तू बेकार ही रो रहा है ?

["जीवन से भागो नहीं।"—कहनेवाले वासुदेव या ज्ञानेश्वर यह बतला रहे हैं कि जीवन में जियें कैसे ? अनासक्त चित्त और अनाग्रही बुद्धि से जीने की कला सिखला रहे हैं कि तू इन नश्वर आकारों में, सतत परिवर्तनशील नाम-रूपों में आसक्त हो कर मोहग्रस्त-शोकव्यस्त हो रहा है—यह सब व्यर्थ है। जो बदलना, आना-जाना, तेरे अधीन नहीं, रोकने से रुकनेवाला नहीं उसके लिये ऐसा अधीर हो कर रोता क्यों है भाई ?]

ऐसे रोने के बदले, इन सब के पीछे स्थित व इन सब में अनुस्यूत एकमात्र चैतन्य को भली भाँति देख ! फिर तुझे व्यवहार कैसे करना है इसका बोध होगा। जिस अव्यक्त सत्ता में से इस व्यक्त जगत् का उन्मेष हुआ है, जिस गौमुख में से गंगाजी का जन्म हुआ है उस गौमुख को देख न भाई ! इस व्यक्त की धारा को उलटा कर तो देख !

जिसे देखने की आर्तता हृदय में उठने पर सन्तों के सभी विषय छूट गये। चैतन्य को देखने का आर्तभाव हृदय में भर जाता है तो समस्त वासनायें आकांक्षायें गलितगात्र हो जाती हैं, पिघल कर बह जाती हैं। उस एकमात्र को देखने की आर्त्ति के कारण अन्य सब तुच्छ लगने लगता है। अन्य इच्छाओं में कोई दम नहीं रह जाता। सब की धारा मिल कर एकमुखी हो जाती है। उस आर्त्ति का जो उपभोग करता है उसे और कोई विषयभोग प्रिय नहीं लगता। ऐसा होने पर उस व्यक्ति (सन्त) के हृदय में विषय ठहरना ही नहीं चाहते। उस हृदय को छोड़कर विषय निकल जाते हैं। उसे विषय छोड़ने नहीं पड़ते, विषय ही उसे छोड़ भागते हैं।

[अर्थात्, अन्य कामनायें विषय-लालसा स्वयं छूट जानी चाहिये; छोड़ना न पड़े। 'त्याग' में कच्चापन है अनुराग का। छोड़ना पड़े, इसका अर्थ है कि भीतर से पकड़ रखा था, पकड़े रहने की गुंजाइश बाकी है, इसलिये बाहर से तोड़ना पड़ता है। किन्तु जिसके हृदय में चैतन्यघन के लिये आर्तता उत्पन्न हुई उसके हृदय को सभी कामनायें स्वयं छोड़ कर चली जाती हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज की यह अद्‌भुत व्याख्या है संन्यास की। स्थूल नामान्तर, वेषान्तर, स्थानान्तर की अपेक्षा नहीं; अपनी ओर से बाह्य सर्वसंगपरित्याग भी नहीं, सूक्ष्म रूप से भीतर से ही आर्ति की दिशा ऊर्ध्वगामिनी—चैतन्यमात्र की अभिलाषिणी—होती है तब विषय व कामनायें (बाँधने वाला सब कुछ) स्वयं हृदय को छोड़ निकल जाती हैं। "मया संन्यस्तम्" नहीं कहना पड़ता। त्याग होता है विषयों द्वारा; व्यक्ति-हृदय का अपने प्रति कोई स्वारस्य न पाकर विषय ही विरक्त हो जाते हैं उसके प्रति!]

जिस त्याग के लिए विरक्तों को वनवास करना पड़ता है वह त्याग यहाँ ऐसा सहज हो जाता है। अथवा, वनवास में भी चैतन्य के लिए आर्तता ही उनके जीवन का आधार रहती है, विरक्ति या वनवास लक्ष्य नहीं होता। [वह आर्त्ति यदि जीवनाधार न हो तो वन में वैराग्य में मस्त रहने वालों के भी चित्त से विषय छूटते नहीं; और कुछ भी नहीं तो वैराग्य ही विषय बन बैठता है। 'मैंने सब त्याग किया' ऐसे त्याग का कर्तृभाव एवं अभिमान उग्र हो जाता है। सर्वत्याग के बाद भी वन के उस स्थल—कुटिया या दण्ड-कमण्डलु तक में चित्त आसक्त हो रहता है, यह बीज बना रहा तो कभी भी खाद-पानी मिलते ही पुनः वृक्ष खड़ा होने की संभावना बनी रहेगी।]

मधुराद्वैत के प्रस्तोता ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं हृदय में चैतन्य घन के लिए आर्त्ति हो तो फिर वनवास या जनवास में कोई अन्तर नहीं रहता। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि को अञ्जलि में ले कर (न्योछावर करने के लिए) जो भक्तिपन्थ पर निकल पड़ता है वह मधुराद्वैत का रसिक है। इस का सङ्केत श्री ज्ञानेश्वरी में पद-पद पर मिलता रहता है।

एक बार किसी की दृष्टि उस सत्ता को छू गयी हो ! जीवनविभु की समग्र-सर्वव्यापिनी प्रभुता-विभुता को अवधान संवेदनशीलता रूपी नयनों से स्पर्श हो गया-कि हृदय में वह आर्तभाव जाग उठता है। तब उन मुनीश्वरों द्वारा ब्रह्मचर्यादि व्रतों का आचरण होता है। दृष्टि जो ब्रह्म तक पहुँचती है वह फिर संसार में नहीं लौटती; ब्रह्म में ही 'आसमन्तात् चरण' विहार करने लगती है। ब्रह्मभाव ही आचरण में आता है। उस दृष्टि को अब दूसरा कुछ भी प्रिय नहीं लगता।

"अब न सुहात विषय-रस छीलर ! वा समुद्र की आस।" 'सुरत न आन चली !'
एकनाथ-महाराज ने भी भागवत-व्याख्या में प्रभु मुख से कहा है—'मेरे प्रति अनुरक्ति; यही विषयों में विरक्ति बन जाती है। प्रभु के प्रति अनुराग की सहज निपज है विषयों के प्रति विराग। वह अपने आप उपजता है, प्रयत्नपूर्वक धारण नहीं करना पड़ता।

ये मुनीश्वर (···प्रभु-सत्ता की ओर दृष्टि जाते ही और सब तरफ से सभी वृत्तियाँ केन्द्र में लौट आती है, ऐसे अनायास ईश्वरप्रणिधान से सहज चित्तवृत्तिनिरोध होने के कारण मौन साम्राज्य पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं वे व्यक्ति अतः मुनीश्वर) फिर ब्रह्मचर्यादि व्रतों (जिनका स्वयं वरण किया जाय वे व्रत) का आचरण करते हैं। वस्तुतः वह स्वयं अनायास होने लगता है। उनके सर्वाङ्ग (तन-मन-प्राणों) में ब्रह्मचर्य उतर आता है। वही सहज शील बन जाता है। इन्द्रियों का चरण (चलना-फिरना) यानी समस्त व्यवहार ब्रह्म में ही होने लगता है। इन्द्रिय-मन बुद्धि में कहीं भी सांसारिकता, विषय-लालसा या अन्यप्रियता रह नहीं जाती। (परं दृष्ट्वा रसोऽप्यस्य निवर्तते)।

[श्लो० २८, ओवी १६४-१७१]

हृदय पर छाया रहता है एक मात्र वह आर्तभाव। अतः कामैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणा आदि सब पिघल कर बह जाती हैं। ब्रह्म में ही रममाण हृदय में वासना-मात्र का अत्यन्ताभाव (सदा के लिये न रहना) ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है। वह सहजशील है सन्तों का।

[ब्रह्मचर्य शील बनना यह चैतसिक अनुभूति-मात्र नहीं बल्कि घटना है, जो चिरस्थायी दशा में परिणत होती है। यह घटना घटित होने के बाद क्या-क्या परिणाम हो सकता है इसका निर्देश अब करने जा रहे हैं वासुदेव मुख से ज्ञानेश्वर महाराज।—]

(पहले जीवन में एवं साधक-दशा में भी व्यक्तियों के स्वभाव-संस्कार-विद्या-परिस्थिति आदि के भेद के कारण अभिवृत्तियाँ अलग-अलग हो सकती हैं इसलिये—) कोई जिनके चित्त निश्चल स्थिर हैं, उत्तेजना और विषाद से चढ़ने-उतरने वाले नहीं, शान्त स्वभाव के हैं, वे जब एक बार प्रभु सत्ता को (बुद्धि द्वारा) पूरी आँखें खोलकर देख लेते हैं तो फिर समस्त संसार को भूल जाते हैं। अर्थात् खुली आँखों से सब कुछ देखते हुए वे सर्वत्र प्रभु को देखते हैं, संसार को नहीं !

"आँख न मूँदौं कान न रूँधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं, खुले नैन हँसि-हँसि के देखौं, सुन्दर रूप निहारौं।" प्रभुसत्ता की समग्रता में इतना लावण्य है, इतना रस है, इतनी पुष्टि मिलती है देखने मात्र से कि फिर उनके चित्त के लिये दूसरा कोई विषय नहीं रह जाता। वे आश्चर्य सहित प्रभु को देखते हैं और चित्त वहीं ठहर जाता है।

दूसरे कोई हैं उन्हें कुछ कहने में रुचि है। वे देखकर केवल शान्त नहीं हो रहते, गुणानुवाद संकीर्तन, भजन करते हैं। 'रस' की एक-एक छटा

का, श्रद्धा का रसमय वर्णन करने लगते हैं। उसीमें रत हुआ उनका चित्त संसार से उपरत हो (हट) जाता है। प्रभुरूप में ही निरन्तर निरवधि (सदा के लिये) तल्लीन तन्मय, रहता है।

[भारतीय संस्कृति में 'साधनानामनेकता, का ऐश्वर्य है। सबके लिए एक ही 'स्टीमरोलर' नहीं चलाया गया। जैसे जिस के संस्कार एवं अभिरुचि, प्रकृति हो वैसा ही साधना का पथ सुलभ है।]

और कोई हैं, वे स्वयं गुण नहीं गाते, पर दूसरा जो गुण गाने में तल्लीन है उसे सुनने में ही आनन्दमग्न रहते हैं (श्रवण भक्ति)। इस श्रवण से ही 'सिद्ध' हो जाते हैं। अग्नि पर चढ़ी हुई रसोई जैसे सिद्ध (सुपक्व-सीझी हुई) हो जाती हैं तब उस में अन्न या वस्तु का पूरा-पूरा स्वाद सुगन्ध-गुण पूरे-पूरे खिल उठते हैं। वैसे ही संसार में रहते समय जिस चित्त में त्रिविध ताप से विचार-विकार-भावनायें उबलती रहती थीं, चेतना उसी सब में व्यस्त थी, वह चित्त श्रवण द्वारा सुपक्व-कषाय हो कर रसविदग्ध हो जाता है, अर्धदग्ध (अधकचरा) नहीं रहता; अतः भलीभाँति रसास्वादन हो पाता है जीवन का। सभी विकारों का (स्वभाव को बिगाड़ने वाले-स्वरूप को विकृत दिखाने वाले आवेगों का) शमन हो कर व्यक्ति सुस्निग्ध एवं शान्त होकर अपने वास्तविक सौंदर्य में निखर उठता है, खिल जाता है। इसका प्रमाण है कि उसका देहभाव-अहंभाव छूट जाता है, आत्मभाव प्रकट दिखने लगता है विकारों का शमन होते ही देहभाव स्वयं चित्त को छोड़ जाता है।

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दोउ न समाहिं॥"

समर्पण एवं अहंभाव-देहभाव ये एक ही शरीर में नहीं रह सकते। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं। दोनों परस्पर विरोधी हैं। काटने वाले हैं, देहभाव व अहंकार आत्मभाव को काटते हैं, और देहभाव मिटने पर ही समर्पण उदित होता है जो आत्मभाव में संस्थिति रूप से परिणत होता है।

श्रवण से जो शान्त हुए, देहभाव उन्हें छोड़कर निकल जाता है और वे तद्रूपता के अनुभव में लीन रहते हैं। उनका चित्त नित्य समाधिस्थ रहता है जैसे समस्त सरिता-प्रवाह समुद्र में मिल जाते हैं। समुद्र कभी किसी भी जलप्रवाह को लौटा नहीं देता उसके दोष कह कर। सभी का नित्य स्वीकार है वहाँ। वैसे प्रभुसत्ता में सभी चित्तवृत्ति-सरिताओं का सभी भावों का सदा स्वीकार है जो भी प्रभु तक पहुँचे, सम्पूर्ण भाव से उन्हें वरण करे !

"अजामील गीध व्याध, इनमें कहो कौन साध ?"
पंछी को पद पढ़ात गणिका-सी तारी।"

इन्होंने कौनसी साधना-तपस्या की थी ? बस केवल हृदयपूर्वक वरण किया था प्रभु का। इसी से तद्रूप हो गये।

(एक अन्य प्रकार से कहते हैं—) जैसे सरिताओं के सभी प्रवाह समुद्र में पहुँच कर फिर वापस नहीं लौटते हैं, ऐसे ही योगीश्वरों की मति एक बार प्रभु में मिल गयी कि फिर संसार में कभी लौटती नहीं। वे स्वयं अवश्य संसार में आते हैं उस प्रेम व भक्ति को जीने के लिये; अद्वैत को व्यवहार में जीने का आनन्द प्रकट करते व सिखाते हुए योगीजन संसार में रहते हैं किन्तु उनका चित्त संसार में नहीं आता; चित्त में संसार का स्पर्श नहीं रहता।

[श्लो. २९ ओवी—१७२-७६]

जो सर्वत्र सभी देहों में ओतप्रोत है, उस पर कोई कैसा भी प्रहार कर के घात करना (मार डालना) चाहे, पर कर नहीं सकता, उस का घात सम्भव नहीं। ऐसे विश्वात्मक चैतन्य को तू देख। उसे एक ही जगह एक ही नाम-रूप में देखने का आग्रह न रख। असीम-सर्वात्मक को एक में लाकर भले उपासना के लिये आधार बना ले, पर वह सोपान है आगे बढ़ने का—यह न भूलना। उस एक में आसक्त होकर

स्वयं बंधना नहीं, प्रभु को बांधने की चाह न रखना ! परमात्मा है तो सम्पूर्ण विश्व में हैं, केवल किन्हीं विशिष्ट देवी-देवताओं में सीमित नहीं । उस सर्वात्मक चैतन्य को देख अर्जुन ! तू कहां एक-एक में फँसकर मोहवश हो रहा है ?

यह जो व्यक्त जगत् है यह जलाशय में उठनेवाले तरंगों जैसा है । अव्यक्त में से ऐसी कितनी ही सृष्टियों का आविर्भाव-तिरोभाव (उठना-मिटना) होता रहता है । इस में शोक करनेलायक कुछ भी नहीं है । न जाने इतनी सीधी सी बात तू समझता क्यों नहीं ? किस शोक में पड़ा हुआ है ? तेरी इस शोकमग्न उद्विग्न अवस्था के कारण तू बहुत बड़ा अनिष्ट अपना करलेगा और दूसरों का भी इस से अनिष्ट ही होगा । [श्लो. ३०, ओवी-१७७-७९]

अरे भाई ! अभी तक तू क्यों विचार नहीं कर रहा है ? किस व्यर्थ की चिन्ता में पड़ा है ? तू अपना स्वधर्म भी भूल गया है, जो क्षत्रिय के नाते तेरे तरण का उपाय है । अन्याय के प्रतिकार के लिये युद्ध करना तो तेरा स्वधर्म है ! उसे भूलकर तू कैसे बेकार विचारों में पड़ा है ?

इस स्वधर्मपालन से तो तू संसार तर जायेगा । क्षत्रियधर्म का आचरण करने में भले सभी कौरवों का नाश हो जाये, चाहे तुम भी मृत्यु पाओ—अर्थात् मृत्यु तुम्हारी हो या इन सब प्रतिपक्षियों की, भले यह सारा संसार ही डूब जाये, परिणाम कुछ भी आये, किसी भी तरह तुम्हें स्वधर्म छोड़ना उचित नहीं । और देखो ! अगर तुम सोचते हो कि इन कौरवों पर कृपा-दया करोगे, इन पर शस्त्र नहीं चलाओगे तो क्या इस से इनका व तुम्हारा उद्धार होगा ? अरे नहीं अर्जुन ! इससे तो दोनों और अकल्याण ही होगा । तुझे स्वधर्मच्युत होने का पाप लगेगा और कौरव जो अधर्म-अन्याय-अत्याचार की दुनिया में मस्त हैं वे यही सब करते रहेंगे तुम लोगों पर तथा सारी प्रजा पर भी । अन्यायी-अत्याचारी को ऐसे ही जीने देने में न तो उसका कल्याण है न क्षत्रिय के नाते तुम्हारा कल्याण है ।

तेरा चित्त बहुत द्रवित हो रहा है, किन्तु यह यहां संग्राम के समय सर्वथा अनुचित है । जहां जो योग्य हो, समुचित हो, उसीका आचरण होना चाहिये । दया धर्म का मूल है किन्तु समर के समय वह दया क्षत्रिय के लिये भूषण नहीं दूषण है । जैसे गाय का दूध अमृततुल्य वस्तु है, पोषक औषध जैसी है, किन्तु नवज्वर में गाय का दूध भी वैद्य की दृष्टि से अपथ्य हो तो रोगी को देने से विष जैसा हानिकारक होता है । ऐसे ही इस समय तू युद्ध छोड़कर वापस लौट गया तो तेरी यह दया कौरवों के चित्त में विषमय बन जायेगी; और अधिक दर्प से भर कर उच्छृंखल होकर वे सज्जनों का अपमान व अत्याचार करने लगेंगे ।

इसलिये जो प्रसङ्गप्राप्त उचित कर्म है उसे छोड़कर कुछ अन्य ही करने जाओगे तो हित का नाश होगा इसलिये अब तू सावधान हो जा ! अपना स्वधर्म स्मरण कर ! स्वधर्म का आचरण करते हुए कभी किसी की कोई हानि नहीं हुई है, तू क्यों घबरा रहा है ? व्यर्थ ही क्यों आकुल-व्याकुल हो रहा है ?

[बड़ी-बड़ी बातें कहीं थीं अर्जुन ने, कि युद्ध के परिणाम से कैसे-कैसे दोष समाज में आयेंगे; धर्म नष्ट होगा...इत्यादि । वासुदेव कहते हैं वह सब चिन्ता छोड़कर तू अपना निजधर्म तो सम्हाल !

लोग जब कर्तव्यच्युत होते हैं तब समाज और तत्त्वज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करने लगते हैं । लेकिन भाई ! समाज को सम्हालनेवाले तुम कौन हो ? तुम्हारा हित तो तुम करो ! व्यक्ति अपना-अपना स्वार्थ साधने में पड़े तो समाज को अहित हो सकता है क्योंकि स्वार्थों में विरोध होता है । किन्तु व्यक्तियों के हित यानी सर्वाङ्गीण विकास में तो समाज का हित ही है । हितों में कभी विरोध नहीं होता ।]

जैसे राजमार्ग में चलते हुए कभी इधर–उधर भटकने का भय नहीं होता; मार्ग भूलने का संकट नहीं आता । [दूसरा उदाहरण देते हैं] हाथ में दीपक हो, उसके प्रकाश में कदम रख रहे हों, दीपक का आधार हो और राह चलने में ही रस हो तो ठोकर खाने या गिरने का भय नहीं होता । [हाथ में दीपक हो फिर भी यदि उसके प्रकाश का आधार हम न लें, इधर–उधर ताकते रहें, रास्ते को देखते हुए न चलें तो ठोकर लगेगी, वह दीपक का दोष नहीं । दीपक तो ज्ञापक (ज्ञान करानेवाला) है, वह कारक (कुछ करवा लेनेवाला) नहीं जानकारी व प्रकाश का उपयोग आप कैसा करें इसके लिये आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं । ज्ञान का दीपक हाथ में हो फिर भी कोई इच्छा–वासना–भावनाओं के पीछे भागने लगे तो दीपक यह नहीं कहेगा कि क्यों गलत जगह जा रहे हो ?] उसी प्रकार हे पार्थ, स्वधर्म समझ कर उसके अनुसार आचरण करोगे तो सभी कामनायें अनायास पूर्ण होंगी ।

क्षत्रिय का धर्म है अन्याय–अत्याचार का प्रतिकार करना (इसी के लिये उनके हाथ में समाज की रक्षा का भार सौंपा गया था, आवश्यक होने पर दण्ड शक्ति अपनाने का अधिकार दिया गया था ।) अतः अब तू मन के तर्ककुतर्क छोड़ कर शीघ्र ही युद्ध के लिये तैयार हो जा । यह क्या तुझे कहना पड़ेगा ! सामने उपस्थित प्रत्यक्ष परिस्थिति तू देख रहा है न ! ['मैं नहीं लड़ूंगा' कहकर शस्त्रास्त्र छोडकर अर्जुन चुप होकर बैठ गया था । उसे पुनः अपना योद्धा का आसन व मुद्रा ले लेने के लिये प्रेरित कर रहे हैं वासुदेव ।]

[श्लो. ३१, ओवी १८०–९०]

अर्जुन ! आज का यह समर कैसा है–यह देख तो सही ! अब तक तूने बहुत से युद्ध खेले हैं, पर आज का संग्राम उन सब से अलग ही है । मुझे लगता है कि तुम्हारा कुछ पुण्योदय हुआ है कि दुर्योधन–दुःशासन–शकुनि एवं कर्ण मिलकर जो अन्याय–चक्र चला रहे थे उसका प्रतिकार करने के लिये तुझे आज अवसर मिला है । क्षत्रियधर्म का निधान ही मानो इस युद्ध के रूप में तेरे सामने प्रकट हुआ है । (और आज तू शोकग्रस्त होकर कहने बैठा कि युद्ध नहीं करूँगा !) अरे, यहाँ लड़ना महत्त्व का नहीं, अन्याय का प्रतिकार करना है । इस युद्ध के रूप में आपद्धर्म का निर्वाह करना है । इस निमित्त से तो मानो स्वर्ग ही मूर्तिमान् होकर तेरे सामने खड़ा है । ऐसा अवसर तो बहुत भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है । तुम्हारे प्रताप से प्रसन्न होकर साक्षात् कीर्ति या विजयश्री ही बड़े भाव से भरी स्वयंवर के लिये आतुर हुई तेरे सम्मुख आ खड़ी हुई है । वह तुम्हारा विजय-गान करने आयी है (और तुम रो रहे हो ?) यह तो ऐसी घटना है कि राह चलते पाँव में ठोकर लगी, वह पत्थर उठा कर देखा तो चिन्तामणि निकला (जिस के सान्निध्य में चित्त में जो भी विचार या इच्छा उठे वह पूर्ण हो जाती है) । ऐसे ही यह संग्राम नहीं बल्कि प्रभुकृपा से अचानक पाया हुआ चिन्तामणि है, इस की उपेक्षा नहीं करना !

अथवा, यह तो ऐसा हुआ है मानो किसी प्रमादी मनुष्य के बैठे–बैठे जमुहाई लेते समय खुले मुंह में आकाश से अमृत टपक पड़ा हो । ऐसे समय तुम विषाद–अवसाद में पड़कर महान् सौभाग्य के अवसर का निरादर कर रहे हो ? जरा विचार तो करो !

[श्लो. ३२, ओवी १९१–९५]

अब, ऐसे सामने आये हुए तेरे स्वधर्म के निधान–स्वरूप संग्राम की उपेक्षा–अवहेलना करके क्या तू निकल भागेगा ? व्यर्थ का असङ्गत शोक करने बैठ गया है, जो स्वधर्म नहीं, उसका चिन्तन करता है, और प्राप्त स्वधर्म को मोह वश छोड़ना चाहता है । ऐसा करें तो अपने जैसे मूर्ख हम स्वयं ही होंगे । [यदि व्यक्तिगत राग–द्वेष–मोहभय आदि से ग्रस्त हो कर शास्त्रों सन्तों तथा अपनी भीतरी समझ की अवहेलना हम करें तो हमारे जैसा नादान कोई न होगा]

पूर्वजों ने कण-कण जोड़ कर संस्कारों का निर्माण किया है। संस्कार-निर्माण कोई सामान्य बात नहीं है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी पूर्वजों ने अपने जीवन में प्रयोग किये होंगे, अनुभवों का खाद-पानी सींच कर संस्कार पैदा किये, विकसाये, उन्हें सम्हाला, नई पीढ़ियों में संक्रान्त किया। ऐसा जो पूर्वजों के तप से समृद्ध शास्त्रपूत स्वधर्म तेरे पास आया है उसे फेंकने (छोड़ने) पर उतारू हो रहे हो अपने अहङ्कार के आग्रह के कारण। हाथ आयी इस अमूल्य निधि को यों फेंक दोगे तो तुम्हारे जैसा बुद्धिमान (व्यंग्य में) तुम ही हो! [ज्ञानेश्वर महाराज की उदारता अद्भुत है। जिन्होंने शैशव से आठ वर्ष की आयु तक शास्त्र के नाम पर पण्डितवर्ग और समाज द्वारा अपने माता-पिता को दुस्सह अपमान-निरादर एवं कष्ट दिये जाते देखा था, जिस पण्डितवर्ग ने शास्त्र के ही नाम पर उन्हें प्राणाहुति की आज्ञा दी थी, वह स्वीकारी जाने पर भी उनकी सन्तान को समाज में शामिल करना अस्वीकार किया था, उस शास्त्र एवं पण्डितवर्ग का ऐसा बहुमान एवं शिरोधार्यता-प्रतिपादन करते हैं ज्ञानेश्वर! करते हैं] पूर्वजों ने तप कर के शास्त्रपूत स्वधर्म को उज्ज्वल बनाते-बनाते हमारे हाथ में दिया है-(उसे अमल में लाने में कभी पूर्वजों से या समाज से रूढ़िवादिता व निष्ठुरता की भूलें भले हुई हों. पर उस में शास्त्र का दोष नहीं!)-उसे यथा विचार किये बिना केवल एक आवेग में फेंक देना उचित होगा?

इस से तो तुम्हारी वर्तमान सुख्याति कीर्ति सर्वथा चली जायेगी (नष्ट होगी) और जगत् अभिशाप देगा कि अर्जुन जैसे धर्मयोद्धा महान् वीर ने यह कैसा अनर्थ किया? क्यों कि कौरवों के अन्याय अत्याचार लोगों ने देखे थे। मित्रों तथा उनके ऐसे अधर्मी-अत्याचारी शासकों को उचित दण्ड दिये बिना छोड़ देना यह बड़ा भारी दोष व पाप ही गिना जायेगा।

(उस युग के सामाजिक सन्दर्भ के अनुरूप उपमा देते हैं-) पतिहीन पत्नी की जो दशा होती है वही दशा स्वधर्म-हीन जीवन की होगी! वैसा अपमान उपेक्षा व उपहास ही नहीं रणक्षेत्र में पड़े रहे शव की तरह निन्दा रूपी गीधों से नोचा जायेगा; वह मृतशरीर जैसे और अधिक दुर्दशा एवं अवगति पाता है वैसे स्वधर्मरहित जीवन में व्यक्ति के चित्त की शान्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। [श्लो. ३३, ओवी २००] इसलिये यदि तू यह स्वयंप्राप्त स्वधर्म (अन्यायी से युद्ध) छोड़ देगा तो बड़े पाप का भागी बनेगा और अपयश का कलङ्क फिर कभी तेरे माथे से छूटेगा नहीं।

हे अर्जुन! सज्जन को तभी तक जीना चाहिये जब तक उस की अपकीर्ति नहीं होती!

[आज तो समाज इतना नीचे गिर चुका है कि अपयश की तो किसी को परवाह ही नहीं रही! चाहे जैसे, (-भले किसी को लूट-खसोट कर, चोरी के धन्धे से, या हत्या कर के भी) अपना काम बने यानी अधिक से अधिक भौतिक सुख-सुविधा-सम्पत्ति बटोरी या हथियाई जा सके-वही कुशलता मानी जाती है। किस को पड़ी है कीर्ति-अपकीर्ति की?

लेकिन अभी साठ साल पहले की बात है, दादा धर्माधिकारी ने मुझे सुनाई थी। नागपुर में एक बड़े विद्वान् सत्त्वशील व्यक्ति रहते थे, श्री दफ्तरी, जिन्होंने वेदों पर संशोधन कार्य किया था। वे एक दिन दादा के साथ किसी सभा में गये। उस सभा में वक्ताओं में जो मुख्य व्यक्ति आये थे वे अपने भाषण में कुछ झूठ बोले। तुरन्त दफ्तरी साहब उठ खड़े हुए, कांपते हुए कहा कि—"भरी सभा में महा-जन-समुदाय में तुम झूठ बोले? तुम्हें रौरव नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा।" सभा छोड़ कर चले गये और सज्जन-समुदाय के सामने बोला गया

झूठ सुनना पड़ा इसलिये तीन दिन का उपवास किया शुद्धि के लिये । ...अभी चालीस–पचास वर्ष पहले तक सत्यनिष्ठा एवं स्वधर्मपालन का यह तपःपूत संस्कार भारतभूमि पर जी रहा था । और आज यह दुर्दशा है ।

ज्ञानेश्वर महाराज उसी स्वधर्म एवं कीर्ति की बात कह रहे है–]

अर्जुन ! तू भले ही गुरुजनों–भीष्म, द्रोण-कृपाचार्य आदि पर शस्त्र चलाना अनुचित समझकर, स्वधर्म को भी छोड़ने पर तुला है । लेकिन ये दुष्ट कौरव क्या तेरा सूक्ष्म–सदाशय समझेंगे ? ये तो तेरी पीठ पर भी बाण चलायेंगे और असह्य दुर्वचन कहेंगे, घोर अपयश फ़ैलायेंगे । तू तो निर्मत्सर सदयता के कारण रणभूमि से पीछे लौटना चाह रहा है, पर इन दुष्टोंका मन इस तथ्य का स्वीकार नहीं करेगा । ये चारों तरफ़ से तुझे घेर कर बाणवर्षा करेंगे । कृपालुता से भी तू अब युद्ध में से छूट कर निकल नहीं जा सकता । और यदि किसी तरह निकल भागा भी तो तेरा वह जीवन मृत्यु से भी निकृष्ट होगा । जीवनभर तुझे यही सुनना पड़ेगा कि यह रणक्षेत्र में पीठ दिखा कर भाग आया है । [तात्त्विक दृष्टियों से समझा कर अब वासुदेव लौकिक दृष्टि से भी समझा रहे है ।]

(श्लो. ३४, ओवी २०१–२०५)

तू बड़ी उत्सुकता से युद्ध के लिये यहाँ आया, और अब करुणावश हो कर लौट जायेगा तो इन दुर्जन वैरियों के मन में क्या आयेगा ? कह तो मुझे ? [अर्जुन को निर्मत्सर कहा और वैरियों को दुर्जन ! दुर्जन कौन ? जिसका हेतु दुष्ट है । किसी पर अन्याय–अत्याचार–शोषण कर के स्वयं सुखसाधन हड़पने का हेतु जिसके चित्त में है वही दुर्जन है । केवल बाह्य आचार से सज्जन–दुर्जन की परीक्षा नहीं हो सकती ।...] जिन के मन में दुष्टता भरी है वे कभी दूसरे की सज्जनता नहीं देख सकेंगे । अपनी दुष्टता का ही आरोप सामने वाले पर करेंगे । अपने हेतुओं का चश्मा आँखो पर चढ़ा रहता है ।...व्यवहार का अर्थघटन मूल्यों पर आधारित न हो कर अपने चित्त की दशा पर आधारित होता है । अतः ये दुर्जन तेरे व्यवहार का अर्थघटन वैसा नहीं करेंगे जैसा तू कर रहा है । तेरे हेतु की शुद्धता की कल्पना भी ये नहीं कर सकेंगे । ये तो कहेंगे– "अर्जुन हम से डर कर भाग गया । हमारे पास बहुत बड़ी सेना है, पाण्डवों के पास कम है; वासुदेव उधर हैं पर शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा लिये केवल सारथि बने हैं । इसीलिये अर्जुन भयभीत हो कर भाग गया है ।"–ऐसे जो दुर्वचन बोले जायेंगे वह तेरे जीवन की आलोचना क्या अच्छी है ?

अरे धनुर्धर ! लोग तो बहुत आयास–प्रयत्न करते हैं, जीवन–व्यय करते हैं अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिये । [कीर्ति का आशय है भीतर की शुद्धि बाहर व्यवहार से सिद्ध होती हो । काया–वाचा–मनसा जो व्यवहार है उसमें भीतर का शुद्धि प्रतिबिम्बित हो ।] वह अपार अनाकलित कीर्ति तुझसे जुड़ी हुई है । तेरी कीर्त्ति निःसीम है, गगन जैसी अपार है, तू उत्तम गुणों का निरुपम–अद्वितीय निधान है ऐसी तीनों लोकों में तेरी कीर्त्ति छायी है । दिग्‌दिगन्त में जितने भूपति हैं वे चारण–भाट बनकर तेरी कीर्त्ति का वर्णन करते हैं, उसे सुनकर साक्षात् काल भी चौंक जाता है । इतनी तेरी वीरता का प्रताप है संसार में । गंगा जैसी विशुद्ध एवं गरिमामय तेरे पौरुष की ख्याति सुन–सुन कर इन कौरवसेना में लड़ने के लिये आनेवाले वीरों ने अपने जीवन की आशा पहले ही छोड़ रखी है ।

जैसे सिंह की गर्जना सुनकर बड़े विशाल-काय–अतिबलशाली मदमुख (हाथी) भी भय से काँप जाते हैं ऐसी इन कौरवों पर तेरी धाक् है । [यहाँ "मदमुख" कहने में श्लेष है—उन्मत्त हाथी के गण्डस्थल से मदस्त्राव झरता रहता है, कौरवों को मद है सत्ता का, संख्या–बल का; फिर भी सिंह–गर्जन सुनकर जैसे हाथियों का झुण्ड भी भयभीत होकर दौड़ने लगता है, वैसे ही अकेले

अर्जुन से सब कौरव डरते हैं] ये जीने की आशा छोड़कर ही सामने युद्ध में खड़े हैं । पर्वत जैसे इन्द्र के वज्र से डरते हैं, सर्प जैसे गरुड से डरते है, वैसे ही समस्त कौरव भीतर ही भीतर तुझ से डरते हैं। अब तू ही यदि युद्ध से मुंह मोड़ेगा तो वह सारी असीम अद्‌भुत पौरुष की कीर्ति नष्ट होगी और एक हीनता तेरे नाम के साथ जुड़ जायेगी । अब तुझे कोई भागने नहीं देगा। ये तुझे बुरी तरह पकड़ लेंगे, फिर तेरी दुर्दशा करेंगे, न बोलने लायक अपशब्दों में तेरी तथा सब पाण्डवों की निन्दा करेंगे । वह अपने कानों से सुनेगा तो तेरा हृदय फट जायेगा । वैसी दुर्गति होने देने एवं कुत्सितनिन्दा सुनने से बढ़ कर दुःखद क्या होगा ? ऐसी हालत न हो इसलिए सुभट योद्धा की तरह सुदृढ़ता से युद्ध ही क्यों न करो ?

[श्लो, ३५–३६ ओवी २०६–२१९]

इस युद्ध में विजय हुई तो समस्त पृथ्वी का साम्राज्य तेरे हाथ में होगा ही, उसका उपभोग करना और यदि मृत्यु हुई तो क्षत्रिय के लिये समराङ्गण में मरण जैसी सद्‌गति दूसरी नहीं; वह तो सीधे स्वर्ग का खुला द्वार ही है। इसलिये युद्ध करने में दोनों ओर यश ही है, और पीठ फेर कर लौटेगा तो सभी तरफ से अपयश और दुर्गति पायेगा।

इसलिये अब तू उठ, धनुष खींच कर युद्ध का प्रारम्भ कर । शास्त्र कहते हैं कि स्वधर्म का आचरण करते हो तो पूर्वजन्मों में किये सब पाप नष्ट हो जायेंगे । मनुष्य शरीर में आकर स्वधर्म पालन नहीं करोगे तो दुगने पाप के भागी बनोगे।

[याद आता है मेरे बचपन का एक प्रसङ्ग बड़े भाई का यज्ञोपवीत हुआ; वह नौ वर्ष का रहा होगा। पिताजी ने कहा कि "अब से प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करना होगा; त्रिकाल सन्ध्या न कर सको तो भी प्रातः व सायं सध्या अवश्य करना भाई ने पूछा–"इससे मुझे क्या मिलेगा ?" पिताजी ने कहा सन्ध्या करने से मिलेगा कुछ नहीं, पर नहीं करोगे तो पाप लगेगा । हाँ नियमित सन्ध्या करते रहोगे तो शरीर में जितने दोष होंगे वे निकल जायेंगे।" भाई ने कहा "ऐसे कौन से दोष पाप हमने किये हैं जो सन्ध्या करने से निकल जायेंगे ?" पिताजी ने कहा–"अरे ! और कुछ न सही प्रमाद तो निकल ही जायेगा। दोनों समय नियत रूप से शान्त बैठने के अभ्यास के साथ साथ अनायास ही जीवनक्रम में नियमितता का संस्कार पड़ेगा स्वच्छन्दता और लापरवाही दूर होगी । यह क्या कम लाभ है ?"

विनोबाजी हमेशा कहते थे–"सातत्ययोगी भव !" जो करने का सङ्कल्प करते हो वह सतत करते रहो। दो–तीन दिन किया चार दिन छोड़ा ऐसा न करो सूर्य रोज उगता है न !···स्वधर्मा चरण में सातत्ययोग की कला सिद्ध होनी चाहिये। पहले धर्म के नाम से किया जाता था, अब विज्ञान के नाम से किया जाय। स्वधर्माचरण जीवन को शुद्ध करता है।]

अर्जुन ! अन्याय के विरोध में युद्ध स्वधर्म है क्षत्रिय का । इस में किसी पाप की चिन्ता चित्त में न रखो। तुम निश्चिन्त होकर स्वधर्मा चरण करो, यह तो स्वयं सब पापों को धोने वाला है, इसमें पाप की आशङ्का कैसी ? क्या कभी नदी में आये पूर (बाढ़) को भय होता है कि कहीं पानी में डूब न जाऊँ ? अमृत क्या मरने से डरेगा ? इसलिये निश्चिन्त होकर स्व-धर्माचरण करो ।

(श्लो ३७ ओवी···२२०–२२४)

[स्वधर्माचरण अप्रमत्तभाव से करना, कहीं प्रमाद न होने पाये यह सावधानी रखना। यह शरीर पंचमहाभूतों का बना हुआ है। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और आकाश ये सब हैं जिनका शरीर बना है । इस पार्थिव शरीर को बाहरी पाञ्च भौतिक पदार्थों एवं घटनाओं के स्पर्श से कभी सुख होगा, कभी दुःख होगा । तो जब कभी अनुकूल संवेदन आवें तब सुख में विशेष हर्षित

न होना, और जब प्रतिकूलता आवे, दुःख झेलना पड़े तो उसके प्रति विरोध चित्त में न लाना। सुख-दुःख के द्वैत में से द्वन्द्व पैदा नहीं करना। सुख-दुःख को समानरूप से पाञ्चभौतिक घटनाओं के रूप में देखते-समझते हुए निर्द्वन्द्व अवस्था में जीना—इसका नाम योग है। सभी परिस्थितियों में चित्त में समत्व रहना ही योग है। सुख के प्रति अहोभाव एवं पुनः पाने की लालसा न हो, दुःख के प्रति विरोध एवं उससे बचने की इच्छा न हो, किसी भी परिस्थिति में चित्त की समता और इन्द्रियों का सन्तुलन ढले नहीं। सब परिस्थितियों का सम्पूर्ण स्वीकार करते हुए जीना है। इनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता के साथ अपना कोई स्थायीभाव नहीं बनने देना है—हर्ष और विषाद का।

सुख और दुःख तो पलभर के संवेदन होते हैं वे टिकते नहीं; पर उस में से जो भावना पैदा करली जाती है, बारम्बार जो वृत्ति बनायी जाती है—उत्तेजना या अवसाद की—वही स्वभाव बन जाती है। संवेदनों में से स्थायी भाव पैदा करना फिर उनके द्वन्द्व की रगड़-झगड़ की चपेट में पिसते रहना—ऐसी दुःखकथा बनाकर मनुष्य-जीवन को नष्ट मत करो। पलभर के संवेदन को वृत्ति-भावना-भाव में परिणत करके आगामी क्षणों एवं जीवन के लिये बन्धन पैदा नहीं करो।

पाञ्चभौतिक शरीर में अनुकूलता-प्रतिकूलता तो आती-जाती रहती ही हैं, उनमें प्रियता-अप्रियता का आरोप कर लेता है मनुष्य; उसीमें से बन्धन पैदा होते हैं। घटनाओं में बन्धन नहीं, वह मनुष्य-मन की उपज है।

सुखद-दुःखद संवेदनों के प्रति 'लाभ' 'अलाभ' (हानि) की भावना न बनने दो। उस के अनुसार व्यवहार में व्यापार न करो; (जान बूझकर बनावटी रूप से सुखद संवेदनों की खेती करने की कोशिश में न रहो।) अपना वांछित परिणाम लाने के लिये व्यवहार में कृत्रिम आयोजन न करो। उस से समता-सहजता नष्ट होती है।...पत्थर या यन्त्र नहीं बनना है, लाभ को लाभ एवं हानि को हानि तो कहना ही पड़ेगा लेकिन उसे 'मैं' के साथ न जोड़ो। मन में पकड़ कर न रखो कि "मुझे इतना लाभ हुआ !...मेरी इतनी हानि हो गयी !" मन में लाभ-अलाभ की बात सँजो रखने से स्मृति का बोझ बढ़ता जाता है। तब मनुष्य वर्तमान में जी नहीं पाता। भूतकाल या भविष्यत् में भटकता रहता है। वह निर्जीव अवस्था होती हैं; जीवन के उतने पल व्यर्थ गँवाये जाते हैं।

अब यही—'संग्राम में विजय मिलेगी या मृत्यु हो जायेगी ? ऐसी भविष्य में होनेवाली घटना की चिन्ता आज ही से मत करो। भूतकाल को स्मृति में से खोद-खोद कर निकालना, उस में वर्तमान को डुबो देना, या भविष्य की कल्पना व चिन्ता में वर्तमान का तिरस्कार करना—यह जीवन जीने का ढंग नहीं।

अपने जीवन का आयोजन पूरी सतर्कता एवं विचारपूर्वक अवश्य करना होगा। उस समय अपनी पूरी शक्ति-बुद्धि लगाकर कार्य की चारों ओर से जाँच-पड़ताल कर लो, हेतु व परिणाम की शुद्धता परख लो, अपनी क्षमता तौल लो। एक बार संकल्प व निर्णय कर चुकने पर फिर संशय-सन्देह-ऊहापोह न रखो। **भूतकाल की स्मृति में चिपके रहने से कर्म करने की शक्ति घटती है और भविष्य की चिन्ता से संकल्प का बल घटता है।**]

८

अपने लिये क्या उचित है ? यही कि स्वधर्म का आचरण करते–करते जो प्राप्त हो उसे शान्ति से सहते चलें। "मैं कौन हूँ ? कहाँ खड़ा हूँ। किस परिस्थिति में हूँ ? इस परिस्थिति का कारण क्या है ? मेरी इच्छा, मेरा निर्णय या और कुछ ?"—यह सब सोच लेना चाहिये। फिर अपने स्वधर्म के अनुरूप आचरण करना चाहिये। उस कर्म के परिणाम में जो भी सुख-दुःख, लाभ–हानि आये उसे चैन से सह लेना। कोई शिकायत, 'गिला–शिकवा' न हो, भीतर वृत्तियों का घर्षण न हो। विश्रान्त–विश्रब्ध भाव से परिणाम को जी लेना यह जिन्दगी है। कर्म करना अपने हाथ में है, सो पूरी सावधानी से करें, परिणाम पर अपनी पकड़ नहीं, अतः अभीष्ट ही परिणाम की आशा न रखें। क्योंकि वहाँ हम कुल पाँच कारणों में से एक ही हैं। और पाँचवा कारण है 'दैव'! वह किसी के वश का नहीं।

यहाँ सहन करने का अर्थ है सम्पूर्ण स्वीकार, भक्तों की भाषा में प्रभु के प्रति समर्पण। परिणाम छोड़ देते हैं 'प्रभु की मर्जी' पर।

"राजी हैं हम उसी में जिस में तेरी रजा है।
यहाँ यूँ भी वाह-वाह है और वूँ भी वाह-वाह है॥

चित्त में घर्षण के बिना वही मनुष्य जी सकता है। मन की ऐसी अवस्था रहे तो जो भी कार्य किया जायेगा उस का दोष नहीं लगेगा। इसलिये कहता हूँ अर्जुन ! कि अब सभी भ्रम-भ्रान्तियाँ छोड़कर युद्ध करो ! तुम्हारा यही स्वधर्म है। [श्लो. ३८, ओवी २२९]

(वासुदेव कह रहे हैं—)

अब तक सांख्यस्थिति से, अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से मैं तुझे तेरा कर्तव्य समझा रहा था। अब कर्मयोग की दृष्टि से कहूँगा, तू ध्यान से सुनना भैया ! कर्म के अधिष्ठान में कैसी बुद्धि रहनी चाहिये यह कहा गया, अब कर्म करते समय बुद्धि कैसी रहे जिस से कर्म बन्धन करने वाला न होकर मुक्तिदायक हो जाय यह अब बताऊँगा।

[अवसर देखकर यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज मधुराद्वैत का प्रतिपादन कर रहे हैं। विद्वत्परम्परा यह मानती थी कि आत्मज्ञान होने के बाद संन्यास ही होना चाहिये। फिर कर्म करने की आवश्यकता व औचित्य नहीं रहता, ज्ञानोत्तर संन्यास ही विहित है, कर्म नहीं। ये भक्ति को पञ्चम व पूर्ण पुरुषार्थ कहने वाले मधुराद्वैत–प्रवर्तक महाराज कहते हैं कि वस्तुतः कर्म तो ज्ञानोत्तर ही हो सकता है; आत्मज्ञान से पहले तो सब परायत्त क्रियायें होती हैं, पूर्वाभ्यास के अनुसार आवेगों–आवेशों–राग-द्वेषादि ज्वरों से ग्रस्त मनुष्य के तन–मन खिचते–बहते रहते हैं, अपने चिन्तन व बुद्धि द्वारा निर्णय करके स्वयं स्वाधीन स्वायत्त कर्म करने की दृढ़ता–धीरता आत्मज्ञान से ही आती है।]

तुम भले अहर्निश कर्म करते रहो, फिर भी उनमें से बन्धन पैदा न होकर 'कर्मनिर्जरा' (कर्म करने के द्वारा ही कर्मवासना का जीर्ण होकर झड़ जाना, प्रारब्ध चक्र समाप्त होना) होगी। वज्र का कवच पहन लिया हो तो जैसे किसी शस्त्रास्त्र का प्रहार नहीं हो सकता, वैसे ही कर्मों का बन्धनकारी परिणाम चेतना पर न हो ऐसी युक्ति मैं तुझे बताने जा रहा हूँ।

(श्लो. ३९ ओवी २३०)

ऐसी बुद्धि से युक्त होकर कर्म करने की कला मैं तुझे बता रहा हूँ कि उस प्रकार करने से तेरा ऐहिक—वर्तमान दैनिक जीवन भी बना

१

रहेगा कोई विरोध–विक्षोभ–व्यत्यय इस जीवन में नहीं आयेगा बल्कि जतन ही होगा। और दैहिक–कौटुम्बिक–सामाजिक आदि आवश्यकतायें व जिम्मेवारियाँ पूरी करते हुए ही अन्त में मोक्ष भी हाथ में आ जायेगा। दैनिक जीवन का सब कार्य–रूपी जोड़–बाकी–हिसाब करते हुए ही हाथ में बच रहेगा मोक्ष ! कैसे होगा यह ? सुनो !

कर्म के आधार से जीवनचर्या चलती रहे, किन्तु उस कर्म का फल 'मुझे' क्या मिलता है इसकी तरफ दृष्टि न रखी जाय। ऐसा स्वधर्माचरण करें तो वह निष्काम कर्म होता है। वह बन्धन नहीं पैदा करता। जैसे किसी की भूतबाधा छुड़ाने के लिए मान्त्रिक कुछ टोना–टोटका करके मंत्र बोलता है तो वह व्यक्ति भूतग्रह से छूट जाता है पर वह भूत मान्त्रिक को नहीं पकड़ लेता। वैसे ही घरबाहर सर्वदा सर्वत्र निष्काम भाव से कर्म किये जाते हैं तो वे बन्धन छुड़ानेवाले ही होते हैं, स्वयं बन्धनरूप नहीं बनते।

स्वधर्म समझकर योजना–पूर्वक व्यवस्थित रीति से भलीभाँति कर्म किया जाता है। उस कर्म से अपने को क्या फल मिलेगा ? कुछ मिलेगा या नहीं ? उलटे दुःख या कष्ट ही तो न मिलेगा ? कितने परिश्रम के बदले में कितना-सा सुख या लाभ मिलेगा ? कैसी सुविधा–असुविधा होगी ?—इस की चिन्ता, अपेक्षा व परवाह किये बिना ही स्वधर्म प्रतीत होने के नाते ही कर्म किया जाता है। यह निष्काम भाव ही सुबुद्धि है। इस सुबुद्धि से युक्त कर्म उपाधि नहीं बनता। रात दिन कर्म करते हुए भी मनोदशा निरुपाधिक रहती है, अकर्ताभाव रहता है, नैष्कर्म्य अवस्था हो जाती है। वह कर्म बाँधता नहीं।

"मिटे कर्त्ता तो छूटे कर्म।
'अकर्ता' यही है धर्म का मर्म।"

कर्त्ताभाव रहे–"मैं ने यह किया, मैं ने यह करवाया"–ऐसे कर्म के साथ अपना तादात्म्य बना रहे तो यदि पुण्य हो तो उस कर्म का फल चखने की भी इच्छा होती है या यदि पाप किया हो तो फल से बचने की इच्छा होती है इस तरह वह कर्म फल से बाँध देता है। वह वृत्त पूरा करना ही पड़ता है। [अकर्ताभाव से कर्म करने का ही 'बाइबिल' में सङ्केत है कि "तेरा दाहिना हाथ दान करे तो बाँये हाथ को भी पता न चले ऐसे करो !"] कर्त्ताभाव 'अहं' के खूँटे से कर्मफलों को बाँधता जाता है। इसलिये सुबुद्धि यह है कि 'कर्त्ता'पन का स्पर्श चित्त में न रहे ऐसे ढंग से प्राप्त एवं करने योग्य सब कर्म किये जायें।

अर्जुन ! यदि पुण्योदय के प्रभाव से यह सुबुद्धि थोड़ी भी तेरे हृदय में बस जायेगी तो संसार का भय सर्वथा पूरी तरह नष्ट हो जायेगा।
[श्लो. ४० ओवी २३१–३७]

दीपशिखा नन्हींसी हो, पर उसका प्रकाश छोटा नहीं होता, आसपास बहुत दूर तक वह अँधेरे को हटाता ही है; प्रकाश फैलता है। ज्योति छोटी हो पर उसका तेज व्यापक ही होता है। वैसे ही इतनी ज़रा सी निष्काम–बुद्धि हृदय में एकबार प्रज्वलित हो जाय तो सब कर्मबन्ध नष्ट हो जाता है। पार्थ ! विचारशूरों ने यह भलीभाँति विचारपूर्वक देखा है कि यह सुबुद्धि दुर्लभ होती है। जैसे पारसमणि कभी संख्या में बहुत नहीं होते और क्वचित् ही कभी किसी को पारसमणि मिल पाता है। अमृतबिन्दु भी दुर्लभ है। वैसे ही निष्काम भाव से कर्म करने की बुद्धि भी दुर्लभ है। वह परमात्मा के अनुग्रह से ही उदित होती है। ["उपस्थितिरेव अनुग्रहः" अपने भीतर परमात्मा उपस्थित हैं यह भान होना ही अनुग्रह है।]

यह सद्बुद्धि गंगा जैसी निरन्तर रहती है। गंगा एक ओर गोमुख से दूसरी ओर सागर से निरन्तर मिली हुई हैं, वैसे ही यह निष्काम भाव से कर्म करने की बुद्धि परमात्मा से लेकर विश्व तक निरन्तर योग कराये रहती है। कर्त्ताभाव तथा फल की कामना से रहित स्वधर्माचरण–

रूपी सत्कर्म से विश्व का कल्याण होता है और परमात्मसंयोग रूपी मोक्ष सहज ही निष्पन्न होता है । [श्लो. ४१ ओवी...२३८-२४४]

कुछ लोग वेद का आधार देते हुए कर्म का प्रतिपादन करते हैं ("कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:") लेकिन उस कर्म से मिलनेवाले फल में आसक्त रहते हैं । यानी उनके कर्म की प्रतिष्ठा फलासक्ति के साथ है । "मनुष्य जन्म पाया हो तो यज्ञ-यागादि कर्म करने चाहियें, उनके पुण्य-फल से स्वर्ग के मनोहर सुख भोगने चाहियें ।" उन दुर्बुद्धि लोगों के सामने प्रेरक एक ही है—सुख भोगना । यज्ञादि को भी वे स्वर्गसुख का साधन बना डालते हैं । इससे यज्ञ की पवित्रता नष्ट हो जाती है । [कर्म की शुद्धि हेतुशुद्धि पर निर्भर है । अपना धर्म समझते हुए कर्म किया जाय, उसे करते हुए यश मिले या मृत्यु आवे सब कुछ का स्वागत रहे । ऐसे स्वधर्माचरण की बुद्धि होना सुबुद्धि है; फलासक्ति से कर्म की प्रेरणा दुर्बुद्धि है । हेतु ही कर्म को पवित्रता या अपवित्रता प्रदान करता है ।]

कामना से अभिभूत कर्म सदोष होते हैं । दो कामनायें प्रबल होती है—कामिनी और काञ्चन । कामना उत्पन्न होते ही बन्धन पैदा करती है । चाहे जितनी सावधानी और शास्त्रोक्त विधिविधान पूर्वक सकाम कर्म किये जायें वे कभी प्रारब्धक्षय नहीं करते यदि उन से स्वसुख कमाने की वृत्ति हो । बल्कि ऐसे भोग में चित्त देकर किया जानेवाला कर्म बन्धनाधायक होता है । [वह कोई भी कर्म हो—समाज सेवा हो या शिक्षण-संस्था चलाना हो, या शासन-व्यवस्था चलाने का विधानसभा-लोकसभा का कार्य हो ! यदि चित्त में व्यापार ठँसा हो, "कहाँ किस तिकड़म से अपना घर भरलूं"—यही मति हो (जो कि आज विशेष रूप से भारत की हालत हो रही है) तो ऐसी दुर्बुद्धि से प्रेरित कार्य करनेवालों का प्रतिकार पूरी शक्ति से करना ही चाहिये । वही सज्जन का स्वधर्म है । न्याय-पूर्वक स्वधर्मपालन तो अनिवार्य कर्तव्य है । वह कभी बन्धन उत्पन्न नहीं करता, बल्कि मुक्तिदायक बनता है । किसी भी कर्म का फल यदि विश्वात्मा यज्ञपुरुष को समर्पित रहे तो वह कर्म मुक्तिदायक बनता है ।

अपने भोग की लालसा से प्रेरित कर्म कितनी भी शुद्धता एवं साङ्गोपाङ्ग विधि-पूर्वक किया जाय वह थोथा श्रम ही नहीं सर्वथा व्यर्थ होता है—इसको अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट बताते हैं—] मानो कर्पूर का ढेर इकट्ठा कर के रखें फिर उस में आग लगादें । या उत्तम घी-मेवे वाला मिष्टान्न बनायें पर उस में कालकूट विष मिला दें । [यह बहुत बड़ा कटाक्ष है धन के वृथा शान-शौकत के लिये अपव्यय पर । भारतीय समाज-परम्परा में यह रोग गहरे तक फैला हुआ है । विवाह, मरण, राज-नीतिक जलसे आदि में किया जाने वाला सम्पत्ति का घोर अपव्यय कितना गलत अनुचित जघन्य है इसी का संकेत है यहां ।]

मानो दवयोग से अमृतकुम्भ पाया हो—उसे कोई पाँव की ठोकर मार कर उलटा दे ! [अमृतकुम्भ जैसा ही दुर्लभ है मनुष्य देह मिलना इस में व्यक्त होता हुआ आत्मा है अमृतरस । इस आत्मा की उपेक्षा अवमानना करना ही आत्महनन है—अमृत को पाँव की ठोकर से लुढ़का देने, ढोल देने के समान है । ऐसा करने वाले 'अन्ध तमस् से घिरे लोक में जाते हैं' । सौ वर्ष जीवन जीने का आशीर्वाद दे कर प्रभु ने कृपापूर्वक मनुष्यदेह में जन्म दिया है । ऐसे कर्म करने का सामर्थ्य भरा है इस देह में जिनसे आत्मा की रुचिर सुन्दर अभिव्यक्ति हो । इसे भूल कर यदि केवल घड़े को, यानी हाड़-मांस-रुधिर के शरीर को ही पोसने-भोगने-सजाने में लगे रहे तो भीतर के अमृत-आत्मा की उपेक्षा होती है ।]

इसी प्रकार दुर्बुद्धि लोग सहेतुकतानुसार निज सुखलालसा के कारण कर्म में से उत्पन्न

३

हो सकनेवाले धर्म को नष्ट कर डालते हैं। अरे, स्वधर्माचरण करते हुए भी उसे अपनी कामना-पूर्ति का साधन बना लिया जाय तो वह व्यर्थ हो जाता है। उससे फिर धर्म का तेज–ओज–बल प्रकट नहीं होता। उलटे कर्मेन्द्रियों का दुरुपयोग होने से जीवनशक्ति क्षीण हो जाती है।

जैसे कोई महिला सुस्वादु व्यञ्जनोंवाली रसोई बड़े मनोयोग से बनाये, पर उसे पैसों में बेचदे। [रसोई कितनी भी सुस्वादु हो किन्तु घर में, घर के व्यक्तियों के लिये प्यार से बनी रसोई में जो रस एवं जीवनप्रदायिनी ऊष्मा होती है वह होटल में खरीद कर खाये जाने वाले भोजन में नहीं होती। फिर महाराज के जमाने में तो रसोई बेचने की बात कोई सोच भी नहीं सकता था। अरे अभी तीस वर्ष पहले तक भोजन तो क्या दूध–छाछ बेचना तक पाप माना जाता था भारत के गांवों में !...और आज यह हालत है कि दूध या या भोजन तो क्या आदमी अपना सब कुछ (रूप, गुण, विद्या कला–कौशल, इज्जत, शील धर्म तक) वेचने को तैयार है पैसे व भौतिक सुख–सुविधा के लिये। मन्दिरों में पूजा बिकती है, सेवा और प्रसाद नीलाम होते है।]

हे पार्थ ! ऐसे दुर्बुद्धियों के मार्ग से तुझे जाना नहीं है। [श्लो. ४२-४४ ओवी २४५-२५५]

यह जगत् सत्त्व–रजस्–तमस् इन तीनों गुणों से व्याप्त है, और वेदों में कहे गये यज्ञ–यागादि विधान भी इन तीनों गुणों से सम्बन्धित हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान-काण्ड सात्त्विक है और अन्य उपासना व कर्म-काण्ड रजस्–तमस्–मिश्रित हैं। इस तरह वेद निश्चित ही तीनों गुणों से आवृत हैं। इसलिए अर्जुन ! तू निःसंशय होकर समझ ले कि वेदोक्त भी कर्म (सहेतुक होने के कारण) स्थूल नश्वर सुख–दुःख-द्वन्द्व ही उत्पन्न करते हैं। इनमें तू अपना अन्तःकरण नहीं लगाना। समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना। तुझे तो तीनों गुणों को लाँघ कर आगे चलना है। ('जिस के निःश्वसित हैं वेद'–वे ही अर्जुन को समझा रहे हैं कि वेद तो त्रिगुण–विषयक हैं, उनकी बातों के झमेले में तू मत फँस ! पहले अध्याय के अन्त में तथा दूसरे के प्रारम्भ में अर्जुन ने शास्त्रज्ञान बघारते हुए युद्ध से विरति का समर्थन किया था, प्रत्युत्तर देते हुए वासुदेव कह रहे हैं–) तू वेदों के पार चल ! 'मैं–मेरे' का चक्कर छोड़। सुख–दुःखादि सब वस्तु–व्यक्ति परिस्थिति के सापेक्ष है। इन से परे स्वयम्भू आनन्द आत्मा का धर्म है। उसी के पथ पर चल अर्जुन ! इन्हें पकड़े रखना व्यर्थ है। [श्लो. ४५ ओवी २५६–५९]

वेदों ने बहुत–कुछ कहा है। भिन्न–भिन्न प्रकार से वस्तु का निरूपण किया है। परन्तु हमें वही ग्रहण करना चाहिये जिस में अपना हित हो। वेदों ने तो अनन्त कहा है। किस–किस विधा को पकड़ेगा ? किस–किस को आधार मानेगा ? अपने हित की जो बात वहाँ कही गयी उतनी तू पकड़ले बाकी छोड़ दे। भाई ! जैसे आदित्य–नारायण उदित होते हैं तो संसार के सभी मार्ग, सभी पदार्थ दिखने लगते हैं। तब भी सब रास्तों पर चलना तो सम्भव नहीं होता न ! ऐसे ही वेद रूपी ज्ञान–सूर्य ने सभी रास्ते सुझाये हैं, पर अपनी अभीप्सा और सामर्थ्य देख कर उसी के अनुरूप कोई एक ही मार्ग पकड़ना होता है। तू मुझे कह तो सही कि क्या सभी पर एक साथ चल सकोगे ?

अरे, (अनावृष्टि के बाद भी कभी यदि) समस्त पृथ्वी जलमय हो जाय तो कितने पानी का उपयोग करोगे ? जितनी प्यास है उतना ही पियोगे न ! ऐसे ही वेदों ने इतना सारा ज्ञान दिया है, उस में से अपनी जिज्ञासा, समस्या, आवश्यकता के अनुरूप ही ज्ञान का ग्रहण व विनियोग करना सम्भव है। सुज्ञ सुधीजन वेदों का अध्ययन करते हैं, वेदार्थ का विवरण व व्याख्यान करते हैं, उस पर मनन–चिन्तन करते हैं। सब करने पर भी अन्त में जो मूल अपेक्षित शाश्वत तत्त्व है उसी का ग्रहण करते हैं।

वैदिक ज्ञान के अपार भाण्डार को उस के पूरे पसारे सहित कोई नहीं ले सकता, न लेना उचित भी है। सब का सब जान कर भी जितने का अपने जीवन में उपयोग कर पाओ—जितना जीवन-व्यवहार में धारण कर सको उतना ही श्रयस्कर है। बाकी सारा अनपचे ज्ञान का बोझ कष्ट ही उपजाता है। अनजिये शब्दज्ञान का भार जीवन को बोझिल, उन्मत्त, नीरस रुग्ण बना देता है।

इसलिये वेदों में जो शाश्वत-सनातन मनुष्य धर्म प्रतिपादित है उतना इस जीवन में धारण करना, आचरण में लाना पर्याप्त है। दही मथ कर जैसे मक्खन निकालते हैं, फिर उसे भी तपाकर सब पानी का अंश जलाकर घी बनाते हैं, वैसे ही वेदवाणी का दोहन-पाक-मन्थन-तापन आदि करके जो शाश्वत सार अपनी समझ में पैठे उसे धारण करना है। अपना सच्चा स्वरूप पहचानना और उसकी सभानता में जीना है। अपने स्वरूप-आत्मा की सभानता में कर्म करते रहना है। शाश्वत का स्वीकार करना है नश्वर का नहीं। संसार में सार तत्त्व रस व दल क्या है और गुठली छिलका क्या हैं यह पहचान तो होनी ही चाहिये। वह पहचान न हो तो ही मनुष्य असार पसारे (मायिक अनेकता) की ओर दौड़ता-भटकता रहता है। यह दौड़ समाप्त नहीं होती, मनुष्य का जीवन बीत जाता है।

अपना स्वरूप न पहचानें तो स्वधर्म कैसे पहचाना जायेगा ? शाश्वत आत्मस्वरूप को पहचानें बुद्धि से तभी हृदय से सम्बन्ध जोड़ना और इन्द्रियों द्वारा उस सम्बन्ध को जीना हो सकेगा। [श्लो. ४६ ओवी २६०-६३]

इसलिये हे पार्थ सुनो ! तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, उसके फल के प्रति कभी लेश भी आसक्ति न रहे यह ध्यान रखना है। केवल कर्म करने का अधिकार है किन्तु यह विचार-करना आवश्यक है कि कौन-सा कर्म करने योग्य है ? वह किस ढंग से करें ? किस मनोदशा में कर्म करें ?—यह यदि सोचा न जाय तो 'केवल कर्म' करने में कर्मग्रस्तता आयेगी। वह कर्म मोक्ष का उपाय नहीं बनेगा। उस से सुख-शान्ति नहीं आयेगी।

तुम्हारी वर्तमान परिस्थिति में तो अन्याय के प्रतिकार रूप में युद्ध करना ही तुम्हारा स्वधर्म है और स्वकर्म है। यह युद्ध वीरता-प्रदर्शन के लिये नहीं है। इस कर्म से जो भी फल निकले उस की चिन्ता मत कर। 'फल अमुक प्रकार का ही आना चाहिये !—ऐसा चित्त में विचारने का भी तेरा अधिकार नहीं !

जिस समय जो करना उचित है तभी वह कर्म कर लेना चाहिये। सही अवसर जो चूक जाता है, वह पछताता है। जीवन वहीं के वहीं अवसर बार-बार नहीं लाता। जीवन कोई पाठशाला की समयसारणी नहीं है कि घटनायें दोहरायी जाती रहें। (वासुदेव कह रहे हैं—यह हमने समग्र रूप से विचार कर देख लिया है। आगे-पीछे, परिस्थिति और शास्त्रमत सभी दृष्टिबिन्दुओं से चिन्तन कर चुकने पर यही दिखाई पड़ता है कि अपना विहित कर्म (स्वधर्माचरण) नहीं छोड़ना चाहिये। साथ ही कर्मफल की आशा भी नहीं रखनी चाहिये। "कर्म का फल तो लेना नहीं है तो करने का श्रम क्यों करें ?" ऐसा प्रमादी विचार कर के अकर्म में नहीं उतरना चाहिये और कुकर्म की संगति भी नहीं करनी चाहिये। जिस समय जो करना उचित हो वह न करना उचित नहीं। उचित कर्म से अपने को और समाज को वंचित रखना भी कुकर्म है। अपना निजी कोई हेतु रखे बिना परिस्थिति प्राप्त उचित सत्कर्म भलीभाँति करना ही होगा। पार्थ ! इस समय तेरा युद्ध करना ही समाज के हितमें है, क्योंकि विपक्ष में युद्ध के लिये खड़े हैं, दुष्ट मतिवाले शकुनि, दुर्योधन आदि। वे आततायी हैं, समाज के लिये अहितकारी हैं। सज्जन गुरूजन भी किसी न किसी मोह के कारण इन दुष्टों का ही साथ दे रहे हैं अतः गरिमा खो बैठे हैं। इन के प्रति वृथा मोह में न पड़ कर

५

अपना स्वधर्माचरण करना ही तेरे लिये उचित है। [श्लो. ४७, ओवी २६४–६६]

तू योग में स्थित हो कर कर्म करता चल। 'तू' याने ? इन्द्रियां भी तू है, मन भी तू है, बुद्धि भी तू है और इन सब में रहते हुए सब करने–कराने वाला आत्मा भी तू है। इन्द्रिय–मन–बुद्धि आत्मभाव में रहते हुए चलें तो योगारूढ कर्म निष्पन्न होगा। वही मुक्ति-कारक है। सम्पूर्ण चित्त कुशलता से कर्म करने में लगा दे। तब वह कर्म ही योग बनेगा।

[जैसे–तैसे काम कर डालने से कर्मयोग नहीं होता। जो कर्म सावधान, स्वाधीन स्वायत्त दशा में नहीं किया जाता वह योग नहीं बनता ! किसी हेतु या महत्त्वाकांक्षा की चाबुक चलाकर इन्द्रिय-मन-बुद्धि को दिनभर हाँके रखने से कर्मयोग निष्पन्न नहीं होता। उलटे बन्धन पैदा होता है, शक्ति क्षीण होती है।

आज इस देश की दुर्गति का कारण यही है कि यह भूमि यह राष्ट्र किसी का नहीं रह गया। सार्वजनिक सुविधा के स्थानों, साधनों, वाहनों आदि को देखिये ! न किसी को उनकी सुरक्षा का ख्याल है न स्वच्छता का। अरे अब तो निजी घरों मे भी स्वच्छता, शुचिता-मांगल्य का विचार नहीं रहा। घर के काम भी चित्त देकर सुघड़ता से नहीं किये जाते। अनवधान के अन्धेरे में अन्धाधुन्धी आपाधापी व स्पर्धा के नशे में धुत लोग जैसे–तैसे दिन के पीछे–रात ढोते, रात के पीछे दिन घसीटते चले जाते हैं। यह कोई जिन्दगी है ?

जीवन जीना सिखा रहे हैं वासुदेव कि योगयुक्त होकर अर्थात् पूरा चित्त देकर अपनी, पूरी क्षमता उँडेल कर कर्म करो और किसी भी तरह उसके फल की आशा मत रखो ! और तो और उस कर्म की सम्पन्नता की भी आशा मत रखो। क्योंकि कर्म की सम्पन्नता के अनेक (प्रमुख पांच) कारण होते हैं। सब कारणों पर अपना वश नहीं। और अन्तिम कारण (दैव) तो किसी की भी पकड़ में नहीं। समष्टि की परिस्थिति कभी अनुकूल होती है कभी प्रतिकूल।]

अपना आरम्भ किया हुआ कर्म काल, दैव या समष्टि की अनुकूलता के कारण यदि सफल सम्पन्न हुआ तो उस से विशेष हर्ष न मानना। [कार्य की सम्पन्नता व सफल परिपूर्ति का श्रेय समष्टि की अनुकूलता को है, किसी कर्ता को नहीं। वह तो निमित्तमात्र है।] और किसी संयोग–दुर्योग से किसी भी निमित्त से यदि आरम्भ किया हुआ काम सिद्धि तक न पहुँच पाये, बीच में ही रुका अटका रहे तो उस से असंतोष के कारण क्षुब्ध नहीं होना; चित्त में क्षोभ न उठने देना। काम पूरा हो गया तो अच्छा ही है, यदि आधे में ही रुक गया तो भी बुरा नहीं क्योंकि प्रभुस्मरणपूर्वक, कर्तभाव छोड़ कर, फल का संग या आशा सर्वथा छोड़ कर जो कर्म किया जाता है वह जितना सा भी हुआ हो, परिपूर्ण ही है। क्योंकि वह आरम्भ से ही ईश्वरार्पण–भाव से किया गया और स्वधर्माचरण की वृत्ति से किया गया। जितना भी कर्म निपजे उतना यदि आदिपुरुष परमात्मा को अर्पण करें तो समझ लो कि परिपूर्ण हो ही गया है। सम्पूर्ण समर्पणभाव से किया गया कर्म कभी अधूरा नहीं होता। कर्म के परिपूर्ण होने या अपरिपूर्ण रहने के विषय में मनोदशा समान सन्तुलित रहना—यही उत्तम योगस्थिति है। कर्म की पूर्णता या अपूर्णता में चित्त अच्युत रहता है, सन्तुलन ढलता नहीं।

[श्लो. ४८ ओवी...२६७–७२]

अर्जुन ! चित्त का यह समत्व ही सम्पूर्ण योग का सार है। कर्म करते हुए, सम्बन्धों में जीते हुए दो चीजें कायम रहें—भीतर चित्त की समता, बाहर इन्द्रियों के व्यवहार में सन्तुलन। यही योगस्थिति है। तू इसी दशा में स्थिर होकर जीता चला जा। इसी अभिप्राय से तुझे कहता हूँ कि अर्जुन तू योगी हो जा। बाह्य

परिस्थितियों से घबरा कर मैदान छोड़ जाने को नहीं कहा है। योगी होने के लिये, योगावस्था सिद्ध करने के लिये कहीं कुछ छोड़ कर जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि जब तक मनुष्यों के बीच नहीं रहोगे, प्रारब्ध-प्राप्त परिस्थितियों व सम्बन्धों के बीच नहीं रहोगे, सामने आनेवाले मान-अपमान-सम्मान चुनौतियाँ सङ्कट, विघ्न बाधायें आदि के बीच नहीं रहोगे तो जीवन की अन्तर्दशा की पहचान कैसे होगी? एकान्त में चित्तकी क्या परीक्षा है? भले १० साल हिमालय की गुफ़ा में रहे हों, पर व्यावहारिक जीवन में काया-वाचा-मनसा व्यवहार में चित्त अच्युत रहे-शिथिल, ढुल-मुल, भावना-परवश व प्रतिक्रियाग्रस्त न हो—तभी प्रमाणित होगा कि चित्त व इन्द्रियों में योगदशा सधी है। वह समता-सन्तुलन भी अनायास हों, सहज हों, भीतर-बाहर लेशमात्र भी क्लेश या तनाव-दबाव का भार न हो तभी योग जीवनशील बना समझा जायेगा; अन्यथा नहीं।

अर्जुन! तू ऐसा योगी बन, यह मेरी इच्छा है। मैं इसी ढंग से जीता आया हूँ, जी रहा हूँ। गोकुल-वृन्दावन में ग्वाल-बालों व गोपियों के साथ रहा, मथुरा जा कर कंसवध करना पड़ा, तेरह बार जरासन्ध की सेना से लड़ना पड़ा; फिर जा कर द्वारिका नगरी बसाई...पर मैं वही का वही रहा।

योगस्थिति की अगली कड़ी है मन और बुद्धि का ऐक्य रहना। चित्त सर्वदा सर्वथा अच्युत रहे सम रहे तो जहाँ एक ओर इन्द्रिय-गत व्यवहार सहज सन्तुलित रहेगा वहीं दूसरी ओर मन और बुद्धि का ऐक्य रहेगा। मन व बुद्धि में परस्पर विरोध, घर्षण नहीं होगा, परस्पर भेद नहीं रहेगा।

[हमारे दैनिक व्यवहारों में सुबह से रात तक इन्द्रिय-मन-बुद्धि में खींचातानी चलती है। परिस्थिति-प्राप्त हकीकतें कुछ और होती हैं, इन्द्रियाँ कुछ और चाहती हैं, मन की और ही अनेक इच्छायें व वृत्तियाँ रहती हैं, उधर बुद्धि कुछ अन्य ही कहती-पुकारती रहती है। कभी तो बुद्धि का चाबुक चला-चला कर मन व इन्द्रियों से काम लिया जाता है, कभी मन सब पर हावी हो बैठता है तब न शरीर की सुनता है न बुद्धि की! कभी बुद्धि को अपनी दासी बना लेती हैं वासनायें। उसकी गर्दन पर सवार होकर मन अपनी वासना के अनुरूप कार्य बुद्धि से करवा लेता है।

मन और बुद्धि का सन्तुलन हो, दोनों अविरोधी व संवादी बनें तब जो कर्म निष्पन्न होता है वह सम्पूर्ण-समग्र कर्म खिले फूल जैसा सौरभ बिखेरता है। यही अन्तर होता है संसारी व्यक्ति और सन्त में। संसारी मनुष्य के भीतर रात दिन 'रार' कलह विवाद मचा रहता है, मन-बुद्धि में क्लेश रहता है। कभी मन मुरझाया है तो कभी बुद्धि दबी हुई है। इन दोनों की भींस में इन्द्रियाँ बेचारी कुम्हलाती हैं। अच्छे से अच्छा अन्न लो, अच्छी से अच्छी संगति में रहो, जिनके भीतर क्लेश है उन्हें सोने की थाली में अमृत का ग्रास खिलाया जाय फिर भी व्यक्तित्व खिलता नहीं।

जहाँ चित्त का समत्व होगा वहाँ मन और बुद्धि में एकवाक्यता रहेगी। कोई किसी के अधीन दबा-घुँटा नहीं होगा; सहज सहमति होगी। एक-दूसरे के साथी बनकर जीयेंगे।]

[किसी ने विनोबाजी से पूछा था कि आप की शक्ति का रहस्य क्या है? पचीस भाषाओं के ज्ञाता, वेदों का अध्ययन, श्रम से आर्थिक स्वावलम्बन भी सिद्ध किया, कताई-बुनाई भी सीखे; परम भक्त थे ही, देशकार्य चलता, पदयात्रा चलती, ग्रन्थलेखन और स्वाध्याय भी नियमित चलता। क्या नहीं किया विनोबाजी ने?......पूछा किसी ने कि "इस का मर्म क्या है?" तो स्वभावगत सहज विनोदी स्वर से विनोबाजी ने कहा—"मेरे हाथ में बुद्धि और हृदय की रेखा एक ही है।" यानी बुद्धि और हृदय में कभी झगड़ा नहीं होता। जहाँ बुद्धि ने समझ प्रकट की कि इस परिस्थिति

में यह करना योग्य है, उचित है, वहीं चित्त राजीखुशी से स्वीकार करता है और तुरन्त इन्द्रियाँ वह करने को तत्पर रहती हैं। ऐसा संवादी व्यक्तित्व बनता है।

चित्त की समता का सबसे बड़ा यदि कोई परिणाम है तो वह है विसंवादी विच्छिन्न असामाजिक व्यक्तित्व मिट कर सुसंवादी सुसम्य सामाजिक सज्जन बनना। (You get converted from an antisocial individual into a socially harmonious gentle person.) सन्तुलन में शुद्धि है, असन्तुलन अशुद्धि है। हमारे व्यवहारों में जितना असन्तुलन एवं मन-बुद्धि का विसंवाद-विरोध-संघर्ष रहता है उतना ही समाज का वातावरण प्रदूषित होता है। अतः समाज को मानवीय व स्वस्थ बनाने के लिये भी इन्द्रिय-मन-बुद्धि का सन्तुलन-समता-संवाद अनिवार्य है, अर्थात् योगी होकर जीना—योगस्थिति में जीना आवश्यक है।]

अर्जुन ! मैंने तुझे कहा था कि सांख्ययोग के बाद बुद्धियोग समझाऊँगा। उसका आशय अब सुनो। बुद्धि की परिष्कृति के बिना और हृदय व बुद्धि के संवाद के बिना, बोध से युक्त हुए बिना जो कर्म किया जाता है वह शारीरिक श्रम व बाह्य क्रियाकलाप की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण अभ्यङ्ग होने पर भी व्यर्थ रहता है। समझे बिना किया हुआ कर्म, और कामनाप्रेरित फलप्राप्ति के हेतु से किया हुआ कर्म अनिष्टकारक होते हैं अतः निकृष्ट हैं। बुद्धियुक्त कर्म ही श्रेष्ठ है।

शास्त्रोक्त कर्म निकृष्ट हैं यह सुनकर कर्म करना ही छोड़ नहीं देना है। आशय इतना ही है कि जो कुछ करें वह समझ कर ही करें, बिना समझे कुछ न करें। शास्त्रों के विधिविधान का भी आशय समझकर तब उन पर आचरण करें। [ज्ञानेश्वर महाराज वेदों के भक्त होने पर भी क्रान्तिकारी हैं। उन्होंने प्रामाण्य केवल शब्द का नहीं आत्मप्रत्यय का माना। इसीलिये कहा कि मर्म समझते हुए ही कर्म करना उचित है।] समझ सहित कर्म करते हुए ही योगस्थिति प्राप्त हो जायेगी। योगस्थिति विकसित होने पर जो सहज कर्म निष्पन्न होंगे वे परिपूर्ण होंगे। वे विधिनिषेध की पकड़ से बाहर होते हुए भी अकर्म नहीं होंगे।

["निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः" का हार्द यहाँ कहा गया है। योग स्थिति में निष्पन्न होनेवाले सहज कर्म शब्दाभिव्यक्ति में शास्त्रबाह्य भले दिखें किन्तु तत्त्वतः, परिणामतः वे सम्पूर्ण-समग्र एवं हितकर ही कर्म होंगे, कभी शास्त्रविरोधी अहितकर कर्म नहीं होंगे। वे विधि-निषेध के चाबुक या चिमटे से प्रेरित नहीं, सायास नहीं, बल्कि अनायास सहज निष्पन्न कर्म होंगे, इसीलिये स्वाभाविक रूप से स्वयं सुपुष्ट होकर सम्पूर्ण खिले पुष्प की भाँति सौरभमय होंगे, आह्लादक आनन्दप्रद होंगे।

और भी एक सङ्केत यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज दे रहे हैं, केवल शास्त्रशब्दों से बँधे पण्डितसमाज को उनकी नासमझी जता रहे हैं कि सहज योगस्थिति में जीनेवाले व्यक्ति के जीवन में बहुधा ऐसे भी कर्म होते हैं जो शास्त्रबाह्य दिखाई देते हैं किन्तु वस्तुतः तत्त्वतः वे शास्त्रविरोधी नहीं होते, विधि-निषेध की सीमाओं से परे होते हैं। ऐसी ही स्थिति थी हमारे पिता-माता की। गुरुदेव की आज्ञा से पिता ने संन्यास में से गृहस्थाश्रम में पुनः प्रवेश किया था, जिस में प्रभु का महान् सङ्केत था। उनका वह कर्म शास्त्रविरोधी नहीं था किन्तु कोरे शब्दों में अटका शास्त्रीपण्डितसमाज उसके मर्म को समझ नहीं सका था।]

[निर्मम होकर अमानवीय व्यवहार श्री विठ्ठलपंत रुक्माम्बा एवं चारों दिव्यज्ञानमूर्ति बालकों के साथ किया गया था। पितामाता को देहान्त-प्रायश्चित देकर भी उनकी सन्तान को समाज ने स्वीकारा नहीं था।—उसी ओर गहरा संकेत है यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज का उसी पण्डित समुदाय के समक्ष।]

इसलिये बुद्धियोग बड़ा समर्थ है। अर्जुन तुम इस में स्थिर हो जाओ। फल का हेतु मन में रखकर कार्य करने की पद्धति का त्याग करो। जिन्हों ने अपने आप को बुद्धियोग में प्रतिष्ठित कर लिया वे पारङ्गत हो गये। जन्म-मरण के चक्र या प्रवाह के पार चले गये एवं समग्र-सम्पूर्ण-कुशल कर्म करने में निष्णात हो गये। कर्म करते-करते ही मुक्त हो गये। क्यों कि ऐसा (हेतुरहित व कुशल) कर्म करने वाले व्यक्ति को पाप व पुण्य दोनों (जो पुनः पुनः जन्म-मृत्यु का बीज बनते हैं) छोड़ देते हैं। व्यक्ति ने फल की वासना छोड़ी, कर्त्ताभाव छोड़ा, तो कर्म से उपज सकने वाले पाप-पुण्य उस व्यक्ति को छोड़ देते हैं। अर्थात् उसके कर्म किसी भी प्रकार बन्धनापादक नहीं होते अपितु मोक्ष-निमित्त बन बन जाते हैं।

(ऐसे ज्ञानोत्तर कर्म का सङ्केत दिया गया।)

[श्लो. ४९-५० ओवी २७३-७७]

वे व्यक्ति कर्म करते हुए दिखाई देते हैं; कर्म में लगे रहते हैं, किन्तु कर्मफल को चित्त से भी स्पर्श नहीं करते; पहले ही वह प्रभु को समर्पित कर चुके होते हैं। इसलिये उनका यातायात (संसार में आवागमन) सर्वथा समाप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति निरामय अच्युत-पद पाते हैं। जहाँ से गिरना, लौटना नहीं होता। वे जीतेजी हो नित्य स्थिर मुक्ति-दशा में रहते हैं। वे जीवन्मुक्त योगी वस्तुतः जीवन जीते हैं। निरामय-निष्कलङ्क नित्य अच्युत समाधि-स्थिति में ही वे जीते हैं। उसी स्थिति में से उन के सब कर्म निष्पन्न होते हैं।

हे अर्जुन! तेरा चित्त इस प्रकार का बनेगा—याने बुद्धियोगयुक्त बनेगा, कर्मफल की वासना और चिन्ता मिटेगी, स्वधर्माचरण के लिये तेरा चित्त एवं इन्द्रियाँ तत्पर बनेंगी;—जब तेरी बुद्धि इस मोह को पार कर जायेगी कि "वे मेरे स्वजन हैं, सगे—सम्बन्धी हैं, गुरुजन हैं, बन्धु-बान्धव हैं-इन पर शस्त्रप्रहार कैसे करूं?..." यह मोह हटने पर ही वस्तुतः तेरी समझ खिलेगी।

तू विचार तो कर! कि जो अधर्म-अन्याय-अत्याचार करता है, उस का कोई गोत्र रहेगा क्या? वह न किसी कुल का रहता है; न धर्म का, न जाति का! वह स्वजन तो क्या सज्जन भी नहीं रहा, दुर्जन हो गया। वह किसी धर्मशील-न्यायशील-सत्यनिष्ठ कुलीन व्यक्ति का स्वजन कैसे रहा? यह समझने पर, मोह छूट जाने पर तू बुद्धियोगयुक्त बनेगा। तब तेरे चित्त में वास्तविक वैराग्य संचरित होगा। विषयों के प्रति अनुराग-आकर्षण-आसक्ति शान्त होना ही वैराग्य है।

तू देहभाव के नाते इन्हें स्वजन कह रहा है, आत्मभाव की दृष्टि से देख तो सही कि ये—'अर्थस्य पुरुषो दासः'—कहने वाले एवं स्थूल-भोगलिप्सा में पड़े हुए लोग क्या तेरे गुरुजन या स्वजन कहलाने योग्य रहे हैं?

वास्तविक वैराग्य जब चित्त में संचार करेगा तब निष्कलङ्क गहन आत्मज्ञान उदित होगा। (आरम्भ में कहे हुए सब प्रज्ञावाद मोह के कारण निकल रहे थे, वह कोई शास्त्रज्ञान या धर्मभान या बोध से प्रेरित नहीं थे।) सच्चा आत्मज्ञान उदित होने पर तेरा चित्त वस्तुतः निरिच्छ बनेगा। अभी जो "मुझे राज्यसुख नहीं चाहिये, भीख माँग कर जी लूंगा, पर इन लोगों पर शस्त्र नहीं उठाऊँगा" इत्यादि कह रहा था-वह मोह का प्रलाप था, उस में बोध का अधिष्ठान नहीं था। आत्मज्ञान के अधिष्ठान-बिना निरिच्छता नहीं होती। जब तेरी

बुद्धि देहभाव की मर्यादा समझ कर, आत्मभाव का आशय समझ कर आत्मा में स्थिर होगी. आत्मलक्षी –आत्मज्ञानी–आत्मरत बनेगी तब तेरा चित्त वस्तुतः निरिच्छ बनेगा ।

तभी भूतकाल का स्मरण और भविष्य की कल्पना–इन में भटकने के रूप में वर्तमान से पलायन थमेगा । पलायन के लिये तेरे चित्त में स्थान नहीं रहेगा । [स्वधर्माचरण की घड़ी में दुर्बल मनुष्य का चित्त दुःखद वर्तमान का सामना करने को राजी नहीं होता, भूतकाल की घटनाओं या अनुकूल शास्त्रवचनांशों में से समर्थन ढूँढ कर भाग जाना चाहता है या फिर भविष्य की चिन्ता या कल्पनायें रचता है ! जो सामने है वहाँ डट कर खड़ा रहना नहीं चाहता । और वासुदेव कह रहे हैं कि "जहाँ खड़े हो वहाँ प्राप्त परिस्थिति में जो कर्तव्य है उस से भागना नहीं; चुनौती का यथायोग्य सामना करना, प्रतिसाद देना; प्रतिक्रिया में न उलझना" —यह वैदिक संस्कृति है । यहाँ समग्र जीवन का सम्पूर्ण स्वीकार है ।

[श्लो. ५१, ५२, ओवी २७८–२८१]

जो मति पहले इन्द्रियों की संगति में पड़ी थी, विविध–इच्छा–वासनाओं से भरे मन से जुड़ी थी, मन की दासी हो चुकी थी, विषय–प्राप्ति के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करती थी, दस दिशाओं में बँटी रहती थी,–वह मति, बुद्धि जब इन्द्रिय–मन की संगति के बदले अपने स्वामी आत्मा की संगति में रहने लगेगी, इन्द्रिय–मन के मांगे हुए विषयों में उचित–अनुचित हिताहित का विचार करके अत्यावश्यक हितकर का ही ग्रहण करने देगी तो अपने समुचित आश्रयस्थान आत्मा में स्थित स्थिर रह सकेगी । तब दासी की तरह इधर–उधर दौड़ेगी नहीं । आत्मा की पतिव्रता हो कर नित्य आत्मा में स्थित रहेगी ।

इस स्थिति का ही नाम है समाधि । बुद्धि का बहिर्मुख न रह कर अन्तर्मुख होना, इन्द्रिय–विषय का चिन्तन छोड़ कर आत्मा में लीन रहना, –यह है समाधि । तल्लीनता, तन्मयता फिर तद्रूपता आती है । केवल आत्मस्वरूप में स्थित रहने पर समाधि के शुद्ध आनन्द में स्थिति होती है । वह योगस्थिति तभी तुझे प्राप्त होगी । अनन्त चित्तवृत्तियों के शमन की वह अवस्था-योगावस्था–अचल समाधि जीवन का शील बने, वही सच्ची योगावस्था है ।

[श्लो. ३३ ओवी २८२–२८४]

वासुदेव का यह सङ्केत पकड़ पाने से आह्लादित हो कर अर्जुन कहने लगा-"इसे कृपया और समझाइये । व्यक्ति समाधिस्थ कैसे होता है ? उस की क्या पहचान है ? यह मैं आप से पूछने ही वाला था कि आप कृपानिधि ने स्वयं इस विषय का उपोद्घात कर दिया । मेरे पूछने की भी राह न देखी !"

तब अच्युत बोले-"तुझे जो भी पूछना है सो खुले दिल से, उन्मुक्तता से पूछ ले ! (पूछने में लज्जा, भय, संकोच को आड़े न आने देना !)"

'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया'–यह भारतीय संस्कृति-परम्परा की विशिष्टता है । समझ में भलीभाँति पैठ न जाय तब तक पूछते चलो । चारों ओर से खोल–खोलकर पूछो ! बोध पाने की सच्ची उत्कट जिज्ञासा–अभीप्सा से पूछे गये प्रश्न कोरे कुतर्कजाल या प्रतिक्रियात्मक नहीं होते, प्रणिपात (श्रद्धामय आत्मनिवेदन) तथा सेवन की पावन अभीप्सा से सम्पुटित प्रश्न सम्पूर्ण वृक्ष के विकास की सम्भावना वाले बीज जैसा होता है, जिस में श्रवण–मनन–निदिध्यासन का खाद–पानी–धूप संयोग होने पर बोध का अंकुर फूटता है ।

[इस परिप्रश्न एवं गोष्ठी के मध्य सहज संक्रान्त होनेवाले बोध के लिये ही भारतीय संस्कृति में गुरु–शिष्य–सम्बन्ध की इतनी महिमा गायी गयी है । अपने यहाँ ज्ञान से अधिक महत्त्व बोध का रहा है । कली में से जैसे पुष्प खिलता है, वैसे आत्मानुभवी और जिज्ञासु के सहचिन्तन में से, चर्चा में से, संवाद-परिसंवाद में से बोध नाम का पुष्प खिलता है ।

२

वह परिप्रश्न भी एक कला है। पूछना याने समझे बिना ऊटपटाँग कुछ भी डाल देना नहीं, दुष्ट तर्क या प्रतिक्रिया नहीं; नया कुछ विचार सुना हो जिस से अपनी धारणा-मान्यता को ठेस पहुँची हो, धक्का लगा हो तो उसके दुःख-विषाद-उद्वेग-क्षोभ को शब्दों में उँडेलना प्रश्न नहीं! ऐसे ही मौके पर श्री जे. कृष्णमूर्ति कहा करते थे—"Sir! That is a wrong question? That is stupidity...You must know how to ask the question."

जो सुना गया उसे भलीभाँति समझे बिना, मर्म आत्मसात् हुए बिना या उसके लिये पूरा परिश्रम किये बिना प्रश्न पूछने का अधिकार ही नहीं आता।]

पार्थ बड़ा कुशल है संकेत पकड़ने एवं परिप्रश्न करने में। समाधि का वर्णन सुनकर वह सीधे यह नहीं पूछता कि—"ऐसी समाधि मुझे कैसे मिलेगी? कब मिलेगी?" समाधि कोई कमाने का विषय नहीं है—सत्ता-सम्पत्ति की तरह। जैसे योग्य आहार-विहार मिलता रहे तो कुमारावस्था में से यौवन स्वयं ही शरीर में खिल उठता है, वह स्वभाव है जीवन का। वैसे ही चित्त में समता, इन्द्रियों में सन्तुलन एवं बुद्धि में सम्पूर्ण जीवन का बिनशर्त स्वीकार लिये हुए स्वधर्माचरण करते रहें तो नित्य के जीवन में समाधि भी सहज ही खिल उठती है।

अर्जुन प्रश्न करता है—"श्रीकृष्ण! आपने जो वर्णन किया ऐसे केवल समाधि सुख में रहनेवाले बुद्धियोगयुक्त स्थितप्रज्ञ को कैसे पहचाना जाय? उनके व्यवहार में कैसे चिह्न प्रकट होते हैं?" इसी में संकेत है कि भीतर समाधि में नित्य निमग्न रहनेवाला, आत्मस्वरूप में लीन रहनेवाला व्यक्ति भी रहेगा तो समाज में ही। सब लोगों के बीच, सब कार्य करता हुआ वह रहेगा। समाधि-आयाम को दैनिक जीवन में व्यवहृत करने की बात श्री वासुदेव ने उठायी है। श्रीमद्भगवद्गीता की विशिष्ट महिमा यही है कि चेतना के समाधि-नामक आयाम को व्यवहार में, प्रत्येक कर्म में विनियुक्त-प्रकट करने की कला एवं विज्ञान यहाँ कहा गया है। अर्जुन के प्रश्न पर श्रीकृष्ण के उत्तर में वह लक्षण निरूपित हुए हैं।

"कर्म करते हुए उसके चित्त की दशा कैसी रहती है? व्यवहार में कैसा रूप विलसित होता है?" बड़ी आजिजी से अर्जुन पूछता है कि "हे देवाधिदेव! यह मुझे समझाइये।" तब वासुदेव के रूप में सदेह अवतरित परब्रह्म, जो षड्गुणों (६ हो ऐश्वर्यों) के आश्रयस्थान-अधिकरण हैं, सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप हैं एवं अनन्तगगन के भी जो प्रावरण हैं, (व्योम से भी अधिक व्यापक-प्रभविष्णु हैं) वे नारायण कहने लगे—

[बड़ी चतुराई एवं कुशलता से प्रश्न का उत्तर आरम्भ करते हुए स्थितप्रज्ञ-दशा का वर्णन करते हैं। सबसे पहले तो प्रश्नकर्त्ता को ही स्वयं को टटोल लेना पड़े ऐसी रीति से स्थितप्रज्ञता के पहले कदम का उल्लेख करते हैं—]

"सुनो अर्जुन! चित्त में आरूढ़ होकर जड़ जमा बैठी हुई—प्रौढ़-अभिलाषा सब से बड़ा अंतराय है समाधि का।—स्वसुख, निजानन्द में स्थिति नहीं होती अभिलाषाओं के कारण। यह अभिलाषा छूट जाये तो तू स्वयं समाधि-स्थिति को अपरोक्ष रूप से देख सकता है, फिर लक्षण पूछने की जरूरत ही नहीं।

यह जो विश्व है यह स्वयं प्रभु की काया ही है कोई मिथ्या-माया नहीं। यहाँ विषयों के रूप में प्रभु ही हैं और इन्द्रियों में अपने-अपने विषय के रस को ग्रहण करने की, संवेदन की शक्ति भी रखी है। तो देहधारण के लिये जितना आवश्यक हो उतना विषयरस प्रत्येक इन्द्रिय को देना-इस में कोई दोष नहीं; पर उसमें अभिलाषा का सम्बन्ध भी नहीं। अभिलाषा का ताँता ही संग्रह-परिग्रह की वृत्ति उपजाता है। देह की आवश्यकता भलीभाँति पूरी होने के बाद इन्द्रियों को प्रिय लगी वस्तु के प्रति-"यह और मिले, बारम्बार मिले, कहीं ऐसा न हो कि यह छिन जाय।"—यही माँग मोह व भय परिग्रह की जड़ हैं। परिग्रह से होनेवाले पाप बोने

के लिये सतत दान की, यज्ञ (निःस्वार्थ त्याग) की महिमा गायी गई। परिग्रहरूपी पाप का प्रायश्चित है सहज–नित्य दान। [लोग तो उसे और पाप ओढ़ा देते हैं 'दानी'–पन के अहंकार से।]

इसलिये अर्जुन! जो नित्यतृप्त है–अपने स्वरूप में सर्वदा वर्तमान रहने के कारण, क्योंकि स्वरूप तो सर्वरूप है, सर्वव्यापी है; वहाँ किसी भी तरह के अभावबोध की संभावना नहीं। जो सर्व में सर्वदा ओतप्रोत है वह अतृप्त कैसे होगा? अरे! पानी को क्या प्यास लगेगी? ज्योति क्या अँधेरे से डरेगी? अन्न को भूख लगेगी? वैसे सर्वव्यापी आत्मा को अतृप्ति कैसे? उस आत्मा में स्थित रहने वाला चित्त व बुद्धि सहज सन्तृप्त रहते हैं। तब कामनायें चित्त को बाहर खींच नहीं ले जा सकतीं। कामनायें उठतीं ही नहीं।

कामनायें ही चित्त–बुद्धि को आत्मा का सङ्ग छुड़ा कर विषयसङ्ग में ले जाती हैं। आत्मा में रहने से नित्य भरा–पुरा संतृप्त रहने वाला चित्त आत्मा का संग छूटते ही कंगाल सा होकर विषयों की आसक्ति से कभी न पुरने वाले कामना–कूप में गिर जाता है। यह न हो इस का अनुपाय-रूप उपाय है आत्मा का सङ्ग न छोडना। सर्वव्यापी होते हुए भी निराकार निर्गुण का सङ्ग कैसे? अन-वरत अवधान द्वारा! भावात्मक अनुसंधान और बुद्धि का अवधान। वह छूटे तो चित्त च्युत पतित हो जाता है। और चित्त यदि अच्युत रहे आत्मा में स्थित रहे तो कामना सर्वथा छूट जाती है, काम्य विषय भी! अर्थात् जब चित्त सब कामना अभिलाषा—जो मिला वह और–और पाने की लालसा, अपने से बाहर का कुछ भी पाने की स्पृहा, —छोड़ देता है, अपने आप आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, तभी व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। [श्लो. ५४–५५, ओवी २९२–९३]

आत्मा में स्थिर रहने से सहज नित्य सन्तृप्त चित्त वाला वह परिपूर्ण व्यक्ति फिर दुःखमय परि-स्थितियाँ आने पर उद्विग्न नहीं होता। और सुख प्राप्त होने पर उस सुख के प्रति स्पृहा-लालसा नहीं जागती। काम और क्रोध उस चित्त में रहते ही नहीं। वह काम क्रोध–रहित होता है, और भय को जानता तक नहीं। उसके चित्त में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं और बुद्धि में सभी उपाधियों का निरसन हो चुका है। ऐसे चित्त–बुद्धिवाला व्यक्ति स्थितप्रज्ञ है–यह पहचानो।

['दुःखों में चित्त में उद्वेग नहीं उठता'–ऐसे दुःख के साथ बहुवचन लगाया गया क्योंकि दुःख के प्रकार व कारण अनेक होते हैं, दुःख झेलने में भीतरी वृत्ति व क्षमता भी प्रतिव्यक्ति भिन्न होती है। यों तो सुख-दुःख दोनों ही बहुधा प्रारब्ध पर निर्भर करते हैं, वह सामूहिक प्रारब्ध भी हो सकता है। वह सुख के साथ कम, दुःख से अधिक जुड़ा होता है। व्यष्टि का प्रारब्ध समष्टि–प्रारब्ध से जुड़ा होता है। इस से आकस्मिक दुर्घटनाओं में एक साथ सैंकड़ों–हजारों की मृत्यु अथवा पीढ़ी–दर पीढ़ी चलती रहनेवाली शारीरिक विकृतियाँ बीमारियाँ, अधिक दुष्काल, भूकम्प, बाढ़ें आदि घटित होती हैं। पृथ्वी पर बहुसंख्य लोगों की बुद्धि दुष्ट हो गयी है, दुष्ट व्यवहार होते हैं, इस का प्रभाव पंच महाभूतों पर पड़ता है उससे पर्यावरण में क्षोभ होता है।...]

दुःख–सुख तो जीवन में सभी के सामने आते ही हैं, पर उनसे पेश आने के ढंग व्यक्तियों के अपने–अपने होते हैं। दुःखों में से गुज़रना–ज़िन्दादिली से—एक कला है। धर्मशाला में यात्रिकों की तरह व्यक्तिजीवन में सुख–दुःख का आना–जाना चलता है, कोई रुकता नहीं। पर मनुष्य दुर्बुद्धि या दुर्बलता के कारण यदि इनको स्वयं रोक रखता है, स्थायी निवास करने देता है, शरीर के व्याधि को मन में स्थान देकर तूल बढ़ाता है; दैनिक व्यवहार में आपसी 'चकमक' या नगण्य मानापमान को व्यर्थ महत्त्व देता है तो कष्ट भोगता है।

उद्वेग यानी–'यह दुःख मुझ पर क्यों आया? इतना ज्यादा क्यों आया? इतने लम्बे समय तक बना क्यों रहा?...' इत्यादि शिकायत चित्त में घुलती रहती है। उस से हताशा, निराशा, विषाद, अवसाद

से चित्त घिरा रहता है; प्रसन्न नहीं हो पाता। जड़ में शिकायत रहती है भगवान् के खिलाफ–जीवन के खिलाफ!

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पर लाख दुःख–सुख आते रहें, उसके चित्त में न तो दुःखों के लिये लेशमात्र भी उद्वेग उठता है न सुख टिका रहे ऐसी लालसा होती है। दुःख से भागना नहीं चाहता, सुख को पकड़ रखना नहीं चाहता, दोनों को स्वस्थता से जी लेता है। ऐसे व्यक्ति के चित्त में काम और क्रोध प्रवेश नहीं करते, भय छूता नहीं। क्योंकि बीते हुए की स्मृति–जुगाली नहीं, वर्तमान से शिकायत नहीं, भविष्य की चिन्ता नहीं।

वस्तुतः वर्तमान का सम्मान करनेवाले व्यक्ति को शिकायत–चिन्ता–भय की फुर्सत ही नहीं मिलती। वर्तमान प्रत्येक पल कुछ न कुछ नयी चुनौती लिये आता है, उसीक्षण उसे प्रतिसाद देना अपेक्षित होता है, उसे चूक जायें तो जीवन के उतने क्षण चूके जाते हैं। उन क्षणों में भूत–भविष्य का हिसाब करने में पड़ें तो प्राप्त परिस्थिति का सामना नहीं होता। और वे क्षण फिर लौटते नहीं।

इसीलिये कहा गया कि जिसे सुख को टिकाये रखने की स्पृहा नहीं, और दुःख के प्रति शिकायत नहीं–ऐसा अनुद्विग्न चित्त लिये जो जीता है वही वास्तव में जीवन जीता है। उसे काम–क्रोध–भय–लोभ–मद–मत्सर स्पर्श नहीं करते। वर्तमान का भय हो नहीं सकता। वहाँ तो परिस्थिति है और हम हैं; जीवन के स्पन्दन हैं। उन्हें या तो जी जायें या चूक जायें। वहाँ कोई तीसरा विकल्प नहीं।

यह नहीं कि वह सुख को सुख नहीं कहेगा या दुःख को दुःखरूप नहीं मानेगा, बल्कि सब कुछ को ज्यों का त्यों ग्रहण करता है, उसीक्षण पूरी तरह जी लेता है, उसकी स्मृति द्वारा लालसा या वितृष्णा या अन्य कोई ग्रन्थि नहीं बनने देता; वह काया–वाचा–मनसा सहज सन्तुलित व्यवहार करता है उसकी बुद्धि स्वस्थ रहती है। व्यवहार में संवेदनों–वस्तुओं–व्यक्तियों के प्रति कोई भेदभाव नहीं रहता। वह उपाधियों–ऊपरी छिल्कों को हटाकर सीधे जीवन को देखना व उचित प्रतिसाद देना सीख गया है।

ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

[श्लो.–५६, ओवी २९४–९६]

वह पूर्णिमा के चन्द्र के समान सर्वत्र समान व्यवहार करता है। चन्द्र यह नहीं कहता कि "अमुक मनुष्य उत्तम है उसके घर को हमेशा स्निग्ध शीतल चाँदनी से भरा रखूँगा। अधम के घर अँधेरा रखूँगा।" ऐसी निरवच्छिन्न समता, (समभाव, समव्यवहार) सदा सर्वत्र सब के लिये रहता है। उसके लिये श्रेष्ठ–कनिष्ठ, अनुकूल–प्रतिकूल, सन्त–पापी, प्रिय–अप्रिय ऐसी श्रेणियाँ व्यवहार में नहीं रहती।

[यह बड़ा कठिन लगता है मनुष्य को! क्योंकि अपने भीतर प्रियता–अप्रियता जटिल–कुटिल वृत्तियों का खजाना भरे रखता है मनुष्य। इस झूले से उतरना नहीं चाहता वह।

किन्तु गीता में वासुदेव की एवं ज्ञानेश्वरी में महाराज की यह बात कोई कविकल्पना (Utopia) नहीं है। हमने अपनी आँखों से निजी जीवन में ऐसे व्यक्तियों को बहुत निकट से देखा है, सन्तों में ही नहीं गृहस्थाश्रमी सामान्य व्यक्तियों में भी। जीवन में मानवीय–सम्बन्धों में एक नया आयाम, नयी गतिमत्ता जिया जाना सम्भव है। और स्वानुभवसिद्ध सच कहें तो बड़ा सरल–सीधा व आनन्दमय रहता है वह जीवन। ये भक्त लोग अपने आप को जरा भी कष्ट नहीं देते। राग–द्वेष–काम–क्रोध–भय–स्पर्धा के विष–जाल का स्पर्श भी नहीं होने देते अपने चित्त को। सदा मधुर, सब के प्रति सौजन्यपूर्ण, निःस्वार्थ सहज स्नेह–करुणा भरा प्राञ्जल निरागस चित्त रहता है, वैसा ही व्यवहार सबके प्रति होता है। सामनेवाले कुछ भी करें या कोई भी परिस्थिति–विपत्ति या सम्पत्ति सामने आ खड़ी हो उनका आसन नहीं डोलता कभी! भीतर समता डिगती नहीं, बाहरी निमित्त से कोई प्रतिक्रिया–परिवर्तन नहीं आता।]

उन्हें कुछ अच्छा मिले तो उससे उन्मत्त-उत्तेजित नहीं होते; और दुःख में स्तब्ध अवसन्न, बेसुध, म्लान नहीं हो जाते। उनकी प्रज्ञा आत्मा में स्थित है; चित्त आत्मबोध से ओतप्रोत है, लबालब भरा है, अतः हर्ष-शोक का अवकाश नहीं वहाँ। वह स्थितप्रज्ञ दशा है।

[श्लो. ५६ ओवी २९७-३००]

जैसे कछुआ अपने अवयवों (हाथ-पाँव-सिर) को जब इच्छा हो—आवश्यकता हो, तभी फैलाता-लम्बाता है, अन्यथा अपनी पीठ की ढाल के भीतर समेटे रहता है; उसी प्रकार जिस की इन्द्रियाँ देश-काल-परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार ही कार्य शील होती हैं, अन्यथा अन्तर्मुख शान्त स्थिर रहती हैं। इन्द्रियाँ उसके-उसकी प्रज्ञा के स्वाधीन रहती हैं, उसका कहा करती हैं, विषय-कामना से ग्रस्त होकर पराधीन नहीं हो जातीं। इन्द्रियों का, बुद्धि का पूरा सहयोग संवाद रहता है। प्रत्येक इन्द्रिय से अपना अभीष्ट कराने की क्षमता स्थितप्रज्ञ में होती है। इसीलिये उन्हें आयासपूर्वक इन्द्रियों का निग्रह-दमन-पीड़न नहीं करना पड़ता, नियमों की चौखट में बाँध नहीं रखना पड़ता।

भीतर स्थितप्रज्ञता की निष्पत्तिरूप सहज संयम न हो तो वस्तुतः नियमों-व्रतों के बाड़े में इन्द्रियों को बंद रखना हो भी नहीं पाता। किसी न किसी प्रकार विषयों की लालसा-कामना बाड़ की घेरेबन्दी में छिद्र बना कर विषयसंयोग करा ही देती है। फिर सहस्र प्रकार से विषय घेर लेते हैं चित्त को।

जैसे ऊपर-ऊपर से पत्ते, टहनियाँ-डालियाँ तोड़ते रहें और जड़ में लगातार पानी सींचते रहें, तो उस वृक्ष का नाश नहीं होता। वैसे ही वाणी और स्वादेन्द्रिय (रसना, जिह्वा) में जो संयम नहीं साधते-वे चाहे जितने व्रत-नियम करें उनका मन वृक्ष सूखता नहीं। उसमें विषय-वासना रूपी विष पोषित होता रहता है। आहार का असंयम और वाणी में असत्य का कलुष-इस जलसिञ्चन से मन-वृक्ष में नयी-नयी डालियाँ-फुनगियाँ फूटती फैलती जाती हैं। वृक्ष और सुदृढ़ व मोटा होता जाता है, आड़े-टेढ़े फैल जाता है।

बाकी इन्द्रियों का नियमन आसानी से हो भी जाता है, उनके विषय छूट जाते हैं, लेकिन रसनेन्द्रिय का बाह्य निग्रह करने से भी काम बनता नहीं; व्रत-नियम की अवधि किसी तरह पूरी होते ही दुगुने-तिगुने जोर से रसना अपनी तुष्टि कराने लगती है। [इतना ही नहीं अन्य इन्द्रियों के निग्रह की प्रतिक्रिया भी बहुत बार रसना-लालसा के बढ़ जाने में फलित होती है।]

वस्तुतः विषय न देने (निराहार रखने) भर से इन्द्रियों में संयम नहीं आता। नियमों द्वारा कुछ समय के लिये विषय भले छूट गये दिखते हों पर उन में रस बना ही रहता है। विषयों में रस लेने की मन की वृत्ति शान्त नहीं हो जाती।

हे अर्जुन ! किसी नियम से नियन्त्रित न होने वाली यह रसना स्वयं ही शान्त हो जाती है जब परब्रह्म का प्रत्यय आता है। सत्सङ्ग में शब्दों से बुद्धि को स्वच्छ-परिमार्जित-परिष्कृत कर के, उस बुद्धि से तत्त्व की पकड़ आती है। केवल बुद्धि के जानने से प्रत्यय नहीं आता। बुद्धि से जाने हुए तत्त्व को जब हृदय सम्पूर्ण स्वीकार करता है निर्भ्रान्त बुद्धि और निःसंशय चित्त—इन का जब मिलन होता है तब 'परब्रह्म का दर्शन' अनुभव होता है। बुद्धिगत ज्ञान का चित्त से सम्पूर्ण स्वीकार ही प्रत्यक्ष का द्वार खोल देता है।]

तभी बाह्य विषयों के प्रति रस या आकर्षण स्वयं निवृत्त हो जाता है। रसना का रस भी तभी निवृत्त होता है। रसवृत्ति 'रसो वै सः' को पहचान लेती है तो वही रस चखने में रत हो जाती है, फिर बाहर की ओर नहीं जाती। प्रभुरस, प्रभु सत्ता का होनेपन का रस, चित्स्वरूपता का रस, आनन्दस्वरूप का रस चखना आने पर फिर विषय-रस रूपी छिलकों में आकर्षण रहेगा कैसे ?

[जैसे 'काम'-इच्छा माहेश्वरी पहले अपने बाहरी स्थूल रूप में मनुष्य को भरमाती बहकाती-भटकाती-परेशान कर डालती है, किन्तु वही मूल रूप में वस्तुतः उसे अपने स्वरूप-आत्मसत्ता की ओर खींच रही होती है अतः आत्मबोध होने पर

ही काम शान्त होता है। वैसे ही रसना (स्थूल रूप में जिह्वा, मूल रूप में रसग्रहण-वृत्ति) परम रस आत्मतत्त्व का प्रत्यय आने पर ही सन्तृप्त-शान्त होती है। कामवृत्ति एवं रसना का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध भी तथ्य है।]

और तो क्या, शरीर भाव ("मैं यह शरीर हूँ, इस शरीर व मन के सुख-दुःख मेरे सुख-दुःख हैं") ही विसर्जित हो जाता है, जब आत्मभाव का उदय होता है। "सोऽहं भाव" ('मैं वही परमात्मा हूँ' उस में मुझ में तत्त्वतः कोई भेद नहीं) की प्रतीति आती है तब इन्द्रियाँ विषय भूल जाती हैं। सभी विषयों के प्रति रस स्वयं सूख जाता है। वस्तु पाने पर उस की छवि या परछाँई के प्रति आकर्षण न रहने की तरह, रस-स्वरूप व रसस्रोत आत्मतत्त्व का बोध उदित होने पर 'वही मैं हूँ'-यह भाव स्थायी हो जाता है। (श्लो. ५८ ओवी ३०१-३०७]

["चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्"-यही स्थायी भाव हो जाता है। भजन-कीर्तन के समय घण्टे दो घण्टे आने वाला भाव वस्तुतः भाव नहीं, वह तो शब्दों से तन्मय होने की मस्ती है। शब्द-स्वर ताल एवं वातावरण का नशा होता है। वह मस्ती उतर जाती है उस परिवेश में से बाहर आते ही। फिर वही हमेशा वाला देहभाव कायम हो जाता है।

जिन का आत्मभाव स्थायी होता है उन की अन्तःस्थिति सर्वदा समान रहती है, वही उनके प्रत्येक व्यवहार एवं वाणी में अभिव्यक्त होती है। विनोबाजी से कोई पूछता 'आप कौन हैं?' तो वे कहते-"मैं देशस्थ नहीं, कायस्थ नहीं, गृहस्थ नहीं, मनःस्थ नहीं, आत्मस्थ हूँ।" 'देशस्थ'-'कोङ्कणस्थ' ऐसे महाराष्ट्र में ब्राह्मणों के जातिभेद हैं, उन शब्दों का श्लेष लेते हुए विनोबा कहते "मैं तो आत्मा में रहने वाला 'आत्मस्थ' हूँ।' आत्मा में प्रतिष्ठित हूँ।"

ब्रह्मस्वरूप-प्रतीति ब्रह्मभाव में स्थिति के बाद देह और उस के गुण-धर्म तथा समस्त विषय-सम्बन्ध चित्त में से उतर जाते हैं। परिस्थिति में अपेक्षा खड़ी होने पर बुद्धि-मन-शरीर के द्वारा समुचित प्रतिसाद अवश्य दिया जाता है, पर उस समस्त व्यवहार का स्रोत रहता है आत्मबोध-आत्मभाव। उस में नशा या मस्ती नहीं होती; इसीलिये चित्त की समता और इन्द्रियों का सन्तुलन नहीं बिगड़ता। देहभाव नहीं रहता इस का अर्थ यह नहीं कि उन्हें बोलने-खाने-पहनने-उठने-बैठने काम करने की होश नहीं रहती। ऐसी अपंग दशा में ले जाने वाला, व्यवहार में विकृति लाने वाला 'भजन' हो या और कुछ (नशीले पदार्थ)-अध्यात्म से उस का कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे 'विदेहियों' से दुनिया को भगवान् बचाये!]

[आत्मसाक्षात्कार के बाद तो प्रत्येक इन्द्रिय एवं मन-बुद्धि का व्यवहार सन्तुलित, सावधान, सभ्य, सुन्दर, अभिजात होना चाहिये। सुख-दुःख, हर्ष-शोक, जन्म-मरण, यश-अपयश, सम्मान-अपमान का प्रतिसाद भी अभिजात, समत्वपूर्ण, सन्तुलित ही रहेगा। परिस्थितियों में विषमता तो आयेगी ही संसार में। देह के साथ जुड़ा रहता है अपना और असंख्यों व्यक्तियों का प्रारब्ध। इस में, घड़ी-घड़ी में सन्तुलन बिगड़े-क्षोभ हो, कभी गुस्सा, कभी उत्तेजना, कभी खुशी का ज्वार, कभी दुःख का विस्फोट, कभी उदासी, गमगीनी,—यही चक्र चलता रहे तो मानना होगा कि व्यक्ति अभी परिपक्व नहीं हुआ, सुसंस्कृत, अभिजात नहीं है।

समता-सन्तुलन का महत्त्व भारतीय संस्कृति में इतना है कि जीवन का आदर्श अथवा उत्तम जीवन का मापदण्ड ही रखा गया योगी होना! और योग की व्याख्या की गयी-समत्व। संसार में, समाज में, परिवार में, सभी सम्बन्धों के बीच रहते हुए सामने आये सभी कर्म करो, यहाँ तक कि अन्याय-अधर्म-अत्याचार के विरोध में युद्ध भी करो-किन्तु राग-द्वेष के ज्वर से रहित रहते हुए! ज्वर (ताप, क्षोभ, शरीर-मन की उत्तेजितता-अस्वस्थता, रुग्णता) विकृति है, ज्वररहित होना-स्वस्थता (अपने आप में स्थिति) है। जो करो वह आत्मानुसन्धान-सहित स्वरूप के अनुरूप शान्त-स्निग्ध रीति से समझपूर्वक करो!]

"योगी भवार्जुन !" 'समत्वं योग उच्यते !' 'युध्यस्व विगतज्वरः !' "योगः कर्मसु कौशल्यम् !" 'सोऽहंभाव' की प्रतीति दैनिक प्रतिपल के व्यवहार में प्रकट होनी चाहिये । [विज्ञान में जैसे प्रत्येक बात की प्रमाणितता (Verification) देखी जाती है वैसे अध्यात्म में अन्तःस्थिति का प्रमाण है नगद व्यवहार की गुणात्मकता । यहाँ उधारखाता नहीं चलता ।]

प्रत्यक्ष जीवन जीने का शास्त्र है गीता, केवल पाठ करने या रटने का ग्रन्थ नहीं । जो सुना गया उस का अनुबन्ध अपने जीवन से लगाते–जोड़ते चलें तभी सच्चा श्रवण होता है, उस का मनन हो पाता है, उस का निदिध्यास रहता है और तब जाने हुए का प्रत्यय आता है । केवल जानने से नहीं, जीने से प्रत्यय आता है ।

[श्लो. ५९–ओवी ३०८–९]

[अद्‌भुत निरीक्षण एवं गहरे मनोवैज्ञानिक अध्ययन मनन–चिन्तन की परिचायक बात आगे कह रहे हैं–श्रीवासुदेवमुख से ज्ञानेश्वर महाराज–]

वैसे भी हे अर्जुन ! ये इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं । जो बुद्धिमान् साधक इन्हें वश में रखने के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं उन की भी इन्द्रियाँ कभी छिद्र खोज कर बलपूर्वक उन के मन को हर ले जाती हैं । 'हमें तत्त्वज्ञान हो चुका–क्योंकि शास्त्र जान लिये, सन्तों की वाणी सुनी, समझ ली, अब हमें सतत तपस्या की–सावधान रहने की जरूरत नहीं–' इस भ्रम में कोई रहे तो इन्द्रियाँ कभी भी उसे मार्गच्युत कर सकती हैं । साधना करते हुए भी ये वश में रहेंगी ही यह निश्चित नहीं । अतः साधक इन के बारे में निश्चिन्त, बेपरवाह नहीं रहते ।

[योगिराज स्वामी सीतारामदास जी महाराज (जिन के पास हमने बचपन में योगाभ्यास किया) कहते थे कि प्रेमलक्षणा भक्ति–प्रभु के प्रति समर्पण भाव न हो तो हठयोगी का योगाभ्यास भी काम नहीं देता ।] साधक यम–नियम–आसन–प्राणायाम आदि की बाड़ लगाकर प्रत्याहार–धारणा–ध्यान–समाधि के घर में रहते हुए मन को मानो मुट्ठी में लेकर बैठते हैं, बहुत जतन करते हैं; — ऐसे लोगों के मन को भी इन्द्रियों की प्रबलता आकुल–व्याकुल असहाय, विवश बना देती है । क्योंकि इन्द्रियों को युगानुयुग से आदत पड़ी है विषयों के प्रति दौड़ने की । इन बहिर्मुख–(बाहर की ओर ही झुकाव वाली) इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने का अभ्यास जीवन भर करते रहो, तब कहीं ठिकाने रहती हैं । जरा–सी असावधानी में पलभर में उठा विकार–काम–क्रोध–ईर्ष्या–लोभ–द्वेष–जीवनभर की साधना को खा जाता है । इतना प्रबल आवेग लिये विकार हावी होते हैं मन पर ।

निरन्तर साधना में लगे साधक के जीवन में विषयों का मोह ऋद्धि–सिद्धियों के रूप में आता है । जिन्होंने अतीन्द्रिय शक्तियों को जगाने के विशेष प्रयत्न किये हों वे उन शक्तियों को धारण नहीं कर सकते, पचा नहीं सकते, इसीलिये फिर वे शक्तियाँ विकार उपजाती हैं, विषयलालसा बढ़ा कर पतन की ओर बरबस ले जाती है । सिद्धियाँ व शक्तियाँ स्वयं पतन का कारण नहीं, किन्तु यदि साधना के साथ पूरी–पूरी जीवनशुद्धि न रखी गयी हो तो विकृतियाँ उपजती हैं, मूलमार्ग से बहुत दूर भटका ले जाती हैं । इन्द्रियों का अनुगामी हो कर मन अपने हाथ में से निकल गया तो फिर पतन ही पतन होता चलता है । इसलिये साधक को समझ रखना चाहिये कि इन्द्रियाँ बहुत बलशाली हैं, इन के प्रति जीवन के अंतिम क्षण तक क्षणभर भी असावधान न रहे । [श्लो. ६०, ओवी ३१०–१४]

[अतीन्द्रिय शक्तियाँ, ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रकट होने से पहले पूरी जीवनशुद्धि शरीरशुद्धि की साधना की हुई हो तो कुण्डलिनी-जागरण के बाद व्यक्ति ऊर्ध्वरेता (जिसका रेतस् वीर्य ऊपर की ओर चढ़ गया हो) हो सकता है, सब शक्तियों की गति ऊर्ध्वमुखी उच्च आध्यात्मिक उद्देश्यों को पूर्ण सफल बनाने वाली हो सकती है ।

शरीर शुद्धि-जीवनशुद्धि न रही हो, उसकी साधना न की हो और जबर्दस्ती (चैतसिक-बलात्कार जैसा) शक्तिपात द्वारा कुण्डलिनी-जागरण कराया हो तो वह शक्ति अधोमुखी होकर उस व्यक्ति को भयानक बीभत्स रूप से विषयी बना देती है; उसके पहले जीवन में भी जितनी विषयवासना न रही हो उतना प्रबल ज्वार अब उसमें उठता है कि जीवन बरबाद कर देता है । यह वासना केवल स्त्री-पुरुष-शरीरसम्बन्ध की हो ऐसा नहीं, पैसे का मोह, प्रशंसा का मोह, बहुत खतरनाक हो उठता है ।

इसलिये कहते हैं कि अध्यात्मपथ पर चलना चाहते हो तो पहले काया-वाचा-मनसा अपने संपूर्ण सत्त्व के शुद्धिकरण की साधना करो (purification at every level of being) । इस शुद्धि की प्रक्रिया में आगे चलकर स्वयं ही कभी सिद्धियाँ आ जायें या अतीन्द्रिय शक्तियाँ जाग जायें तो उनसे कोई खतरा नहीं, क्योंकि शुद्धि के परिणाम-स्वरूप जैसे ये शक्तियाँ जागती हैं वैसे ही अपना साधना हेतु शुद्ध अध्यात्म का रहने से इन शक्तियों-सिद्धियों को पचाने की क्षमता भी विकसित होती है, तो ये सिद्धियाँ इन्द्रिय-मन को ललचा नहीं सकतीं, अपने लिये अहोभाव या अभिमान तथा इन शक्तियों के उपयोग की इच्छा नहीं उठने देतीं ।

बिना मेहनत किये-मुफ्त में मिला धन जैसे अनर्थ उपजाता है, सम्हालने का भी उद्यम व बुद्धि जिसके पास नहीं उसके हाथ में आया पैसा पापकर्म में जाता है, अधिकाधिक पतन का कारण बनता है, वैसे ही शुद्धि-साधना के बिना कृत्रिम प्रक्रियाओं से उपजी शक्तियाँ-सिद्धियाँ उन्माद और विकार पैदा करके शतमुख विनिपात ही कराती हैं । आज विश्वभर में हजारों-लाखों युवक-युवतियों तथा प्रौढ़ों के जीवन की दुर्दशा इसी तरह हुई दिखाई देती है ।]

इसलिये हे पार्थ ! सुनो—किसी भी विषय के प्रति आसक्ति रखे बिना, इन्द्रियों के प्रति थोड़ा कठोर होकर जो इन की आदतों का दलन करता है, विषयों की और दौड़ने के इनके संस्कारों को धो-बहा देता है । वही योगयुक्त हो पाता है । किसी एक विषय में संयम साधने से काम नहीं बनता । सभी विषयों से उपरति (इच्छा का लौट आना) होनी चाहिये ।

[बिना कारण किसी को स्पर्श करना, किसी का स्पर्श लेना, बिना कारण बोलना या दूसरे की बात सुनना, बिना कारण दिन में दस बार मुंह में कुछ डालते रहना (खाते-चबाते रहना) बिना कारण कुछ न कुछ पीना, जिस काम में मन लगा वही घण्टों तक करते रहना-उसमें पूरी दिनचर्या बिगाड़ देना, जीवन की, शरीरस्वास्थ्य की आवश्यकताओं-आहार-निद्रा-स्वच्छता आदि की अवहेलना करना—ये सभी विश्रृंखलतायें हैं जो इन्द्रियों को शिथिल रहने देकर जीवन को अशुद्ध बनाती हैं ।

आसक्ति का विषय तथाकथित सांसारिक हो तभी अशुद्धि आयेगी ऐसा नहीं, विद्याव्यसन,

संगीत का रस, अरे भजन या ध्यान का रस भी यदि जीवनचर्या का सन्तुलन बिगाड़ता हो तो वहाँ भी सम्हलना चाहिये। किसी भी दिशा का, किसी भी प्रकार का असन्तुलन अशुद्धि ही है, विकृति है, जो अध्यात्मसाधना में बाधक है ।]

कोई एक इन्द्रिय शिथिल हो तो उसके पीछे पीछे अन्य सब इन्द्रियों को भी शिथिल असंयत होते–बाहर खिसकते देर नहीं लगती । अतः सभी इन्द्रियों की स्वैर आचरण की आदतों का सर्वथा निर्दलन होना चाहिये, ताकि ये इन्द्रियाँ अन्तर्मुख रहने लगें ।

जिसका अन्तःकरण जीवन की आवश्यकता की लक्ष्मणरेखा को पहचान सकता है कि कितना विषयसेवन शरीरनिर्वाह के लिये अनिवार्य है–उस रेखा को लाँघकर कोई विषय उसके मन को खींच नहीं सकता । उसके अन्तःकरण को विषय ठग नहीं सकते; भ्रान्त नहीं कर सकते ।

वह लक्ष्मणरेखा पहचानने का बल कैसे आता है ?–जिस की बुद्धि आत्मबोध से भरी है । जिसका चित्त पलभर के लिये भी मेरा स्मरण नहीं छोड़ता । अर्थात् आत्मज्ञान भी है, समर्पण-भाव भी है । दोनों एक साथ हों तो जीवन में यम–नियम आदि सफल होते हैं, इन्द्रियाँ उनके वश में रहती हैं ।

यदि बुद्धि में आत्मज्ञान पक्का न हो और हृदय प्रभु में समर्पित न हो--पलभर के लिये भी विभक्त न होनेवाला, सतत स्मरण में लीन रहने वाला न हो, तो यमनियमादि साधन चाहे जितने किये हों, घर–परिवार भी छोड़कर कहीं निर्जन में गुफ़ा में जाकर बैठे हों जहाँ इन्द्रियों को विषय दिखने की भी सम्भावना न रहे–तब भी, यदि मन में कहीं कोने में विषय–स्मृति पड़ी होगी तो उसीको जगाकर इन्द्रियाँ मानसिक विषय-भोग करने लगेंगी–उसको तो कोई रुकावट नहीं ! मन ही पल–पल में विषय उत्पन्न करके उनका उपभोग करेगा। और भी निश्चिन्त होकर विषय भोगेगा–क्योंकि इसे तो कोई देख नहीं पायेगा, किसी की दृष्टि का, आलोचना–निन्दा का भी भय नहीं–कोई रोक–टोक नहीं ।

ऐसा मानसिक विषयभोग तो दैहिक से भी अधिक पतनकारी, गम्भीर दोष होता है । दृढ़निश्चयी व्यक्ति काया का ब्रह्मचर्य तो साध भी लेगा किन्तु मानसिक–चैतसिक ब्रह्मचर्य तभी सम्भव है जब चित्त ही प्रभु से जुड़ा हो, पलभर भी प्रभु से पृथक् न रहता हो । अन्यथा बाहर तो विषय नहीं हैं, पर मन में जो उनकी वासना का बीज पड़ा हो तो समझो कि साद्यन्त (अथ से इति तक पूरा का पूरा) संसार ही खड़ा हो जायेगा। [ऊपरी दमन–निग्रह–पीड़न का दुष्परिणाम बता रहे हैं कि बाहरी विषय तो फिर भी सीमित होंगे, अनेक परिस्थितियों के कारण दूर भी रहेंगे, पर यदि मन से विषय खड़ा करके मन द्वारा ही उपभोग का चस्का लगा तो उसका कहीं अन्त नहीं आयेगा । मन में यह शक्ति है खुद ही दृश्य खुद ही द्रष्टा सबकुछ एक साथ बनने की । इसका दृष्टान्त है स्वप्न । और फिर वासना ही बीज है जन्म–जन्मान्तर का ।]

यदि यह 'वासना ही हरिरूप' हो जाय ! जिस चित्त में वासना उठती है वह चित्त ही हरि में समर्पित हो जाय ! चित्त में हरि बसे, चित्त हरि में बसे; इधर–उधर कहीं भी कभी जाय ही नहीं—तो वासना रहेगी कहाँ ? तब जन्म–जन्मान्तर की सम्भावना ही न रहेगी। चित्त रूपी डोरी प्रभु के हाथ में सौंप दी तो योग नित्यसिद्ध हो जायेगा।

मन में रहे वासनालेश से भी पूरा संसार-चक्र कैसे खड़ा हो जाता है—इसका दृष्टान्त देते हैं—जैसे विष की एक बूंद भी शरीर में जाये तो फैलकर रक्त में मिलकर पूरे शरीर को विषाक्त कर देती है। वैसे ही जरा सी भी वासना को चित्त में स्थान मिला कि वह फैल कर पूरा संसार खड़ा कर देती है । पहले मन विषयों की कल्पना करता है, वह कल्पना इतनी हूबहू होती है कि सत्य लगती है ।

विष जैसे प्राणहरण करता है वैसे विषय की कल्पना व्यक्ति की पूरी विवेकशक्ति का हरण कर लेती है, विवेक नष्ट कर देती है। एक जरा से तथ्य पर कितने ही कल्पनातरङ्ग उमड़ते

हैं जिनमें विवेक बह जाता है। वर्तमान को वर्तमान के ही रूप में देखकर जीना और जितना सा तथ्य सामने आया हो उसको यथार्थ देखते हुए प्रतिसाद देना, चुनौती पर उपाययोजना करना बहुत बड़ा तप है। मनुष्य भूतकाल के भरोसे वर्तमान से निपटना चाहता है। या तो शङ्का से ही भयभीत हो जाता है, वर्तमान की यथार्थता को सीधे देखने का साहस नहीं करता।

(श्लो. ६१, ओवी ३१५–३२०)

विषयों की कल्पना या शङ्का न सही, पहले अनुभूत विषयों का केवल स्मरण उठा। वह स्मरण, बाह्यरूप से सर्वसङ्गपरित्याग करके निस्सङ्ग हो चुके हुए व्यक्ति को भी दुबारा विषयसङ्ग करा देता है। स्मरण द्वारा बीती हुई अनुभूति मानसिक रूप से ताजी हो जाती है, भोगे हुए विषय का पुनः उपभोग होने लगता है।

महाराज ने यहाँ इस मानसिक उपभोग की बीभत्सता बताने के लिये 'प्रेत' 'शव' 'भूत' शब्दों का उपयोग किया है—पता नहीं क्यों कुछ लोगों को प्रेतों के साथ खेलना अच्छा लगता है! जो बीत चुका, जा चुका उसकी स्मृति प्रेत या शव ही तो है उस क्षण का! पर मनुष्य को व्यसन है स्मृतियाँ सँजोने का। बीते हुए को शब्दों में पकड़ रखते हैं, फिर बार-बार उसका मानसिक उपभोग लिया करते हैं। ऐसे बाहर निस्संग दिखते व्यक्ति भी बहुधा विषयसंग में पड़ जाते हैं। क्योंकि स्मृति द्वारा विषयों का चिन्तन करने से अभिलाषा की मदद से चित्त में उन विषयों की मूर्त्ति प्रकट हो जाती है। थियॉसॉफी में तथा तन्त्रशास्त्र में Materialisation of thought की जो बात आती है उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं व्याख्या यहाँ महाराज कर रहे हैं—उस मूर्त्ति का उपभोग मनुष्य करता है। वह स्वयं ही विषय और विषयी दोनों बन जाता है। इतनी शक्ति है अभिलाषा (काम) में।

अर्थात् जहाँ चित्त में रही कामना–वासना के कारण बीते हुए विषयभोग की स्मृति जागी वहीं पुनः उस विषय का सङ्ग होने से वह कामना फिर हरी (ताजी) हो जाती है। बारम्बार जागती हुई कामना की तृप्ति न हो पाने से क्रोध उत्पन्न होता है। काम ही क्रोध का बीज है। क्रोध से बुद्धि सम्मोहित हो जाती है। उचित–अनुचित का विवेक नहीं रहता, बुद्धि कुछ भी चिन्तन–विचार कर नहीं पाती, कुण्ठित–बधिर हो जाती है। ऐसे क्रोध के आवेश में मनुष्य जघन्य कुकृत्य कर डालते हैं।

किसी भी प्रकार की सूक्ष्म वासना, इच्छा जब तक मनुष्य के चित्त में पड़ी हो तब तक क्रोध की सम्भावना रहेगी ही। क्रोध का परिणाम है सम्मोह होना—जिससे ज्ञान रूप स्मृति का लोप हो जाता है। बड़े बुद्धिशाली का भी ज्ञान काम नहीं करता, आगे–पीछे की होश नहीं रहती अपने कृत्य के परिणाम का भान नहीं रहता। जैसे दीपक में तेल भरा हो, बत्ती भी अच्छी हो, सुन्दर शिखा प्रज्ज्वलित हो, पर अचानक तेज हवा का झोंका आकर शिखा को बुझा दे, तो वह दिया, तेल, बत्ती सब व्यर्थ रहते हैं। वैसे ही मोह के कारण उत्पन्न क्रोध के प्रबल झटके से सारी स्मृति भ्रमित व भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि मारी जाती है। अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य को जैसे रात्रि ग्रस लेती है। निशा में एक मादकता है, वैसे काम–मोह में भी मादकता है जो चेतना को अभिभूत करके बुद्धि को बधिर निष्क्रिय बना देती है। बुद्धिगत ज्ञान पर काम–क्रोध–स्मृतिभ्रंश की निशा छा जाती है।

तब मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। आत्मविस्मृति—"मैं कौन हूँ? कहाँ खड़ा हूँ? परिस्थिति क्या है? इसमें मुझे क्या करना चाहिये? मेरा स्वधर्म क्या है?"—यह सब भूल जाता है। उस सबके आधार पर कर्तव्य–निश्चय करने की शक्ति–बुद्धि नष्ट हो जाती

है। फिर तो मनुष्य केवल अज्ञानान्ध रह जाता है। उसके लिये सारा जगत् मानो प्रलयपूर में डूब जाता है। बुद्धि अज्ञान से अन्धी होकर आकुल-व्याकुल हुई जहाँ-तहाँ दस दिशाओं में दौड़ने लगती है। इस घबराहट में दौड़ने का भी चक्कर पड़ता है। इसलिये फिर विवश होकर, चकरा कर गिरती है। अपने स्थान पर स्थिर खड़ी नहीं हो पाती। यथार्थ को देख पाने की शक्ति उसमें नहीं रहती।

बुद्धि के ऐसे चकरा कर गिरने या स्तब्ध हो जाने पर व्यक्ति का समूचा ज्ञान उसे छोड़ कर चल देता है कि "अब यहाँ मेरा स्थान नहीं। यहाँ तो मोह की मादकता है, अज्ञान का अंधकार है, और आत्मविस्मृति है। यहाँ रह कर क्या करूँ?" इस तरह ज्ञान का आमूलाग्र बुद्धि को छोड़कर चले जाना ही बुद्धिनाश है।

चैतन्य शरीर को छोड़ कर चला जावे तब शरीर की जो दशा होती है वही उस मनुष्य की होती है जिसकी बुद्धि में से ज्ञान निकल गया हो। वह शरीर से जीवित है किन्तु वस्तुतः जीवन की दृष्टि से मरा हुआ ही है, क्योंकि आत्मबोध व ज्ञान ही मनुष्यजीवन का सत्त्व है। ज्ञान के प्रकाश बिना मनुष्य हाड़-मांस-रुधिर का पुतला ही रह जाता है। वह कोई जीवन नहीं :

इसलिये हे अर्जुन सुनो : इन्धन के ढेर में पड़ी एक छोटी चिनगारी जैसे कुछ समय में पूरे इन्धन के ढेर को सुलगा कर राख कर सकती है, सारा घर जला दे सकती है, वैसे ही चित्त में पड़ी जरा सी वासना भी विषयों के ध्यान-चिन्तन द्वारा विषयसङ्ग कराते हुए काम-क्रोध मोह-स्मृतिभ्रंश-अन्त में प्रणाश तक मनुष्य को ले जा सकती है। अतः वासना के विषय में बहुत सावधान रहना चाहिये।

[यह सब कहने का तात्पर्य है कि साधक के जीवन में सादगी, अपरिग्रह, क्यों आवश्यक है। शरीरधारणा के लिये विषयसेवन हो, पोषण के लिये स्वास्थ्य के अनुरूप आहारादि अवश्य रसपूर्वक लिये जायें—केवल स्वाद के लिये नहीं। ताप-शीत-वर्षा-निवारण के लिये परिधान हों, केवल शरीर सजाने या विलासिता के लिये नहीं। अच्छी से अच्छी वस्तु जो सहज सामने अपने लिये उपलब्ध हो उसका आनन्द से उपयोग करने में दोष नहीं, किन्तु उसके लिये अभिलाषा चित्त में न बाँधें कि 'कल भी—आगे भी यह मिलती रहे।'

इतना ध्यान में रखो अर्जुन ! कि यदि तुम मन को बीती घटनाओं एवं पहले भोगे हुए विषयों को याद करके, उन से विनोद पाने की आदत पड़ने दोगे-इतना अवकाश उसे दोगे तो वह मनोविनोद बहुत भारी पड़ेगा। मन से भोगे जाते हुए विषयों को तन से भी भोगने के लिये वह मन तुम्हें विवश बनायेगा, पतन का प्रारम्भ मन में उठी वासना से होता है, और वासना का बीज हैं विषयों का चिन्तन। यह चिन्तन ही चिनगारी बन जाता है साधना-समूह को भस्म करने में। अतः बहुत सावधान रहना चाहिये। जो मनुष्य अपने मन में विषयों का ध्यान रहने देता है, मन को विषय-वासना के प्रवाह में बहने देता है, उस का घर ढूंढते हुए पतन चला आता है। बाहर से सदाचार मन में दुराचार — यही व्यभिचार है।

[भारतीय योगशास्त्र में जितना गहरा मनोविज्ञान सहज चर्चित हुआ है उसके सामने आज का पश्चिम का मनोविज्ञान (जो पिछले दो सौ वर्षों में विकसित हुआ हैं) बिल्कुल बालिश है—ऐसा पश्चिम के योरोप-अमेरिका के बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिकों-मानस-चिकित्सकों को गोष्ठियों में व्यक्त हुआ है—" Ours is rather a childish and juvenile science"—योग व आयुर्वेद की विश्वपरिषद् में यह कहा गया।]

[श्लो. ६२-६३ ओवी-३२१-३३०]

इसलिये अर्जुन ! तू मन से विषयों का चिन्तन सर्वथा पूरी तरह छोड़ दे। इन्द्रियों की जीवनोपयोगी आवश्यकता पूरी करने के लिये प्रत्यक्ष विषयसेवन कर;-भूख लगे तो उचित

पोषक आहार ले, नींद आने पर भलीभांति विश्राम ले सके इस रीति से एवं उतने घण्टे चैन से गहरी नींद ले ले; सर्दी–गर्मी–वर्षा से संरक्षण करने वाले कपड़े पहनो, घर में वैसी व्यवस्था रखो ! ईमानदारी से जितनी साधनसुविधा कमा सकते हो उतने का सुघड़ता से सुरुचिपूर्ण उपयोग करो ।–यह नहीं कि सब छोड़कर बाहर से बैरागी हो जाओ । छोड़नी है मन में विषयभोग की जुगाली ! शरीर के प्रयोजन जितना विषय-सेवन करना तो उचित ही है । मन उन के प्रति उदासीन–यानी उन से ऊपर उठा हुआ होना चाहिये ।

[मधुराद्वैत की यह खुमारी है । सब सम्बन्धों के बीच विषयों के बीच रहते हुए ऐसी रसिकता से जीवन जीना है कि प्रभु के निर्माण किये हुए सचराचर जगत् का–पदार्थों व व्यक्तियों का तिरस्कार न हो, साथ ही सम्पर्क–सम्बन्धों में से बन्धन पैदा न हों । सहज–स्वाभाविक इन्द्रिय–विषय–सम्पर्क हों, उन में मन की दखल द्वारा विकार (राग–द्वेष) पैदा न हों।] इसीलिये कहा कि विषयों का चिन्तन मन से सर्वथा छोड़ दे, तो राग–द्वेष उत्पन्न नहीं होंगे ।

पार्थ ! और एक बात तुझे कहूँ । यदि राग–द्वेष समाप्त, शान्त हो जायें तो फिर इन्द्रियाँ विषयों में खेलती रहें तो भी कोई हानि नहीं होगी । बन्धन उत्पन्न नहीं होगा । जैसे आकाश में स्थित सूर्य अपने रश्मि-करों (किरण रूपी हाथों) से पूरे जगत् का स्पर्श करता है, पर इस से सूर्य को कोई संगदोष नहीं लगता। न तो सूर्य कहीं आसक्त होता है, न किसी पदार्थ से दूर रहना चाहता है, न पदार्थों के गुण–दोष (शुचिता–अशुचिता) किरणों में लगते हैं । सूर्यकिरण हिमालय–गंगा–मन्दिर की मूर्तियों आदि को भी प्रकाशित करते हैं और घृणित गन्दगी को भी । दिन के अन्त में लौटते हैं तो सभी से लौट जाते हैं—यह नहीं कहते कि हिमालय में बने रहेंगे ।

यथाप्राप्त सम्पर्क रहते हुए भी इन्द्रियों के विषयों के प्रति चित्त उदासीन रहता है (आशा–पाश से बँधा नहीं रहता) आत्मरस में 'निर्भिन्न' (अभिन्न) ओतप्रोत रहता है । आत्मरस से भरापुरा हृदय छलकता रहता है । रग–रग में आत्मरस का आनन्द भरा है, इसीलिये इन्द्रियार्थों में उदासीन हैं । चित्त रसमय है, दृष्टि रसमय है, इसीलिये वहाँ प्रेम का सञ्चार है, आत्मरस चख लिया है इसलिये और सब रस फीके पड़ गये हैं । इन्हें छोड़ने या इन से मन हटाने के लिये कुछ प्रयत्न करना नहीं पड़ता । 'अनुपाय एव उपायः'–काश्मीर–शैव–सम्प्रदाय एवं नाथ पन्थ का यह विशिष्ट सूत्र है । सीधी–सादी भाषा में कहें तो कोई रेखा जैसे उस से बड़ी रेखा के सामने स्वयं छोटी पड़ जाती है, वैसे आत्मरस का सम्पर्क होने पर सब विषयरस फीके पड़ कर चित्त से उतर जाते हैं । वह व्यक्ति देख लेता है कि वस्तुतः विषयों में भी रस आत्मा द्वारा ही है, उस के सिवा कुछ नहीं । यही सत्य–तथ्य उसकी बुद्धि पकड़ लेती है । इसीलिये फिर विषय उसे बाँध नहीं सकते ।

अरे, पानी क्या कभी पानी में डूबता है ? आग को क्या कोई आग झुलसा देगी ? आत्म-रस से परिपूर्ण को विषयों का संग कैसे बाँधेगा ? जिस को यह बोध हो गया कि इस संसार में जो मूल द्रष्टा है उसी ने सब द्रष्टा और दृश्य बनाये हैं या वही स्वयं सब द्रष्टा और दृश्य बन गया है, उस से अलग भिन्न कुछ है ही नहीं । वह फिर उस अपने आप में ही सदा परिपूर्ण परितुष्ट रहेगा । उस की प्रज्ञा अचल (स्थित) है — यह निश्चित समझो ।

[श्लो. ६४ ओवी ३३१–३७]

वह सर्वदा प्रसन्न रहता है । आत्मा का ही नित्य संसर्ग रहने के कारण उसके चित्त की मूलभूत प्रसन्नता कभी खण्डित नहीं होती । स्थायीभाव प्रसन्नता का ही रहता है । सांसारिक दुःख–कष्ट–शोक उस चित्त में निवास नहीं करते ।

देह है इसलिये प्रारब्धप्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन (सुख-दुःख) आयेंगे, उनके अनुरूप प्रतिसाद भी उठेगा, पर वे स्पर्श करके ही चले जायेंगे, चित्त में ठहर नहीं पायेंगे। इस सब भीड़ को ठहरने की जगह ही इस चित्त में नहीं है। वहाँ तो आत्मा बसा है।

[हठयोग की प्रक्रियाओं पर आधारित उपमा देते हैं-] जिन का जठर ही अमृत का निर्झर बहाता हो, उसे क्षुधा-तृषा की बाधा नहीं सताती। और (सभी इन्द्रियों की) क्षुधा-की तृप्ति करने वाले बाह्य विषयों की ओर उन का चित्त नहीं दौड़ता। उसी प्रकार जिस का हृदय निरन्तर आत्मरस का सेवन करता है उस को संसार के सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। हृदय प्रसन्न रहता है और बुद्धि अपने आप परमात्मा के स्वरूप में ही स्थित रहती है। जैसे वायुरहित स्थान में रखे दीपक की ज्योति-शिखा निष्कम्प रहती हैं, वैसे ही स्थितप्रज्ञ का चित्त व बुद्धि संशय-सन्देह के कम्प से रहित, संकल्प-विकल्प के झूले से उतर कर स्थिर रूप से आत्मा में विश्रब्ध-शान्त बैठी रहती हैं। हे अर्जुन! वही सच्चा योगी है-यह समझ लो।

[श्लो. ६५—ओवी ३३८-४१]

दीपक को निर्वात स्थान में रखने की तरह बुद्धि को आत्मा में स्थिर रखने की युक्ति जिसे सधी नहीं है, वह व्यक्ति अत्यन्त प्रगल्भ बुद्धिशाली, विद्वान् तपस्वी भी हो, फिर भी विषय उसे ग्रस लेते हैं। अपने गुणों की रस्सी द्वारा विषय उसके चित्त को बांध लेते हैं (बाह्य रूप से न भी उसे आकर्षित कर पायें, पर गुणों पर आसक्त कर लेते हैं।) वह व्यक्ति कितना भी विद्वान् हो, पर उसके चित्त व बुद्धि में स्थिरता नहीं, अतः वहाँ प्रसन्नता नहीं। वह अशान्त रहता है। जिस चित्त में किसी भी स्तर पर उपभोग की लालसा शेष है वह अशान्त ही रहेगा। जिस के मन-बुद्धि ने कहीं भी किसी एक विषय में निर्धार-निर्णय करके निश्चलता प्राप्त नहीं की, संकल्प-विकल्प में ही चित्त भँवरा रहा है, उसे शान्ति होगी कैसे? और पापियों को जैसे मोक्ष नहीं मिलता वैसे जिसके चित्त में शान्ति नहीं, उसे आनन्द भी नहीं मिल सकता।

अच्छे से अच्छे बीज भी यदि अग्नि में डाल दिये जायें-बीज झुलस जायें या भुन जायें, तो वे कभी भी अङ्कुरित नहीं हो सकते, वैसे ही अशान्तचित्त में सुख नहीं रह सकता।

इसलिये मन यदि योगयुक्त नहीं-अयुक्त है -भीतर आत्मा से, बाहर परमात्मा से जुड़ा नहीं-सब तरफ़ से बिछुड़ा हुआ है-तो वह कभी सुखी नहीं हो सकता। मनका बिछुड़ापन सभी दुःखों का कारण है, या वही दुःख का सर्वस्व है दुःख की जड़ वहीं है।

इसीलिये अर्जुन! मैं तुझे कहता हूँ कि तू यमनियमों की बाड़ लगाकर, आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार सिखा कर मन सहित इन्द्रियों को अपने वश में करले, कि ये तेरे कहे में चलें। तब विषयों का आकर्षण शान्त हो जायेगा। बुद्धि को आत्मा में स्थिर करो, इन्द्रियों को संयम का शिक्षण दो। भीतर-बाहर के दोनों छोर समान रूप से सम्हालो। बुद्धि निर्भ्रान्त हो, इन्द्रियाँ संयम-बिन्दु पर खड़ी हों। न भोग में भटकें न त्याग में अटकें। संयम की रसिकता रहे। क्षणभर का भी प्रमाद न होने पाये; गाफ़िल न रहना! इसी में तेरा कुशल है।

[श्लो. ६६, ओवी—३४२-४७]

मान लो कि कोई व्यक्ति गंगा के विशाल पट को लगभग पार कर चुका है, किनारा थोड़ी ही दूर रह गया है। उस समय यदि वह सोचे कि अब तो पार पहुँच ही गया हूँ और नाव खेने या स्वयं तैरने में गाफ़िल हो जाय तो उचित नहीं। क्योंकि उसी बीच यदि कोई बड़ा तरङ्ग या वेगवान् पवन आ जाय तो सन्तुलन बिगड़ कर डूबने की नौबत आ सकती है। ऐसे ही जो साधना-पथ पर बहुत आगे बढ़ चुके व्यक्ति हैं, वे भी देह छूटने से पहले तक कभी गाफ़िल हो जाँय और इन्द्रियों को लाड़ लड़ाने लगें, इन्द्रियाँ प्रबल होकर संयमबिन्दु

छोड़ दें तो कभी वृद्धावस्था में भी मन चञ्चल होकर साधना नौका को डुबा दे सकता है। इन्द्रियाँ यदि अपने वश में न हों, इन्द्रियाँ जो कहें वही हम करते हों तो तीन चौथाई से भी अधिक पार किया हुआ विषय-सागर पल भर में उछल कर डुबा दे सकता है। जैसे किनारे के समीप आ चुकी हुई नाव को भी अचानक उठा प्रबल वायु अपने प्रखर वेग से उलट सकता है, वैसे वृद्धावस्था तक सम्हाली हुई इन्द्रियों को भी यदि कभी भूल कर मन के अधीन होने दिया जाय, तो वे संसार के सुख-दुःख के अधीन हो कर प्रज्ञा को हर लेती हैं, बुद्धि मारी जाती है और मनुष्य वापस संसार में खिंच जाता है। इन्द्रिय मन का अन्तिम क्षण तक कोई भरोसा नहीं।

[श्लो. ६७ ओवी ३४७-५५]

इसलिये अपनी इन्द्रियाँ यदि अपने वश में आ गयी हों तो यह बहुत बड़ी उपयोगी सिद्धि है। यह न हुआ हो और जप-तप-मन्त्रादि के अनुष्ठान से और अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त हुई हों तो वे व्यर्थ हैं, वे कभी भी मनुष्य को डुबा दे सकती हैं।

[यह महाराष्ट्र के वैष्णव सम्प्रदाय का एक वैशिष्ट्य है। वैष्णव याने संयमी। गले में तुलसीमाला संयम-धारण का प्रतीक है। वहाँ व्यवहार में सन्तुलन ही रहेगा, अनाचार नहीं होगा। अखाद्य-अभेघ्य-अशुचि आहार नहीं होगा, नशीला व दूषित पेय नहीं लिया जायेगा। एकपत्नीव्रत होगा। अपशब्द नहीं बोला जायेगा। प्रति सप्ताह एक बार घर में सामूहिक भजन होगा, संकीर्तन होगा। तुलसीमाला गले में धारण करने के बाद किसी की जाति नहीं पूछी जाती-एक महाराष्ट्र में दूसरे आसाम में। कण्ठ में तुलसीमाला ही संकेत है सर्वथा पवित्र वैष्णव-संयमधारी जीवन का।]

इन्द्रियों में संयम तथा मन-बुद्धि का आत्मवश होना सब से बड़ी सिद्धि है। जीवन की सार्थकता इसी में है। और सब से बड़ा दुःख है मन का अयुक्तपन। मन-बुद्धि आत्मा से जुड़ी न हो यह दशा सब दुःखों की जननी है, दुःखों की मूल जड़ है।

तात अर्जुन! स्थितप्रज्ञता का और एक गहन लक्षण जान लो, ध्यान से सुनो! जहाँ समस्त प्राणी सोये हुए हैं, निद्रा के आधीन हैं, वहाँ वे सहज जागृति में हैं—उन्हें प्रकाश दिखता है। और जहाँ सब जीव बड़ी रुचिपूर्वक जागे हुए हैं (व्यवहारों में मग्न हैं) वहाँ वे सहज निद्राधीन है। उसी का जीवन वस्तुत: निरुपाधिक है, वही स्थिरबुद्धि है, उसी को मैं मुनीश्वर कहता हूँ। जिसका मन मौन हो गया हो वह मुनि है। ऐसे मुनियों में वह स्थितप्रज्ञ श्रेष्ठ है।

[यहाँ रात में जगना-दिन में सोना-ऐसा स्थूल अर्थ न लिया जाय। प्राणिमात्र की जागृति यानि सहजरुचि एवं आकर्षण है विषयों के प्रति। वहाँ संयमी याने स्थितप्रज्ञ को जरा भी रुचि नहीं, रस नहीं, लालसा तो दूर रही। अत: विषयों के प्रति वह सोया हुआ है। उसे कोई इच्छा नहीं, स्पृहा नहीं-न भोग की-न त्याग की, न कर्तृत्व की-न साक्षित्व की। दूसरे-भूतमात्र जागृत हैं 'मैं' व 'मेरा'-भाव में। बचपन से ही बिना सिखाये ही 'मेरा'-पन जाग जाता है (Instinctive possessive attitude towards objects.)

जो स्थितप्रज्ञ हैं उन में 'अहं'-भाव ही नहीं, तो मम'-भाव कहाँ रहेगा? उन का अहङ्कार तो सब भूतकालीन संस्कारों को ले कर चुपचाप क्रियाशून्य हो कर सोया हुआ है, केवल प्रज्ञा जाग रही है, विश्वचेतना ही आवश्यकतानुसार प्रतिसाद देती है उन के द्वारा।

जहाँ भूतमात्र सोते हैं-जहाँ विषयों का संग संभव नहीं ऐसे निपट एकान्त में-मन के मौन

में प्राणियों को, मनुष्यों को भी रुचि नहीं। शब्द के बिना, किसी न किसी प्रकार के इन्द्रिय विषय–संसर्गों के कोलाहल के बिना चैन नहीं पड़ती। जहां कुछ भी दृश्य–श्रव्य (किसी भी इन्द्रिय का कोई विषय) नहीं—ऐसी निःसंग शून्य–तुल्य स्थिति से संसारी प्राणी घबराते हैं, उस दशा की ओर झांकना भी नहीं चाहते; उस से दूर ही रहना, उस के प्रति निद्रित रहना चाहते हैं। स्थितप्रज्ञ को वहीं आनन्द आता है। वह अपने आत्मानन्द में ऐसा तल्लीन, मस्त रहता है कि इन्द्रियों को विषय मिल रहे हैं या नहीं–इस की कोई परवाह नहीं उसे। बाहरी एकान्त–लोकान्त से उस का कुछ बनता–बिगड़ता नहीं। वह तो 'शून्य के भी महाशून्य' 'महा-शून्य के भी निष्कर्ष'–स्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिर हो कर बैठा हुआ है, सभी स्तर के सम्बन्धों से अतीत, स्पन्दों के भी अतीत उस की बैठक जमी हुई है।

ऐसा व्यक्ति पञ्चमहाभूतों के देह में रहते हुए भी, सोपाधिक दिखते हुए भी वस्तुतः निरुपाधिक है। वही मुनि–सम्राट् है।

[श्लो ६९ ओवी ३५५–५६]

उस का और एक लक्षण है अक्षोभता। सभी सरितायें दुनियाभर का न जाने क्या–क्या बहाती आती हुई समा जाती हैं, पर सागर में जैसे कभी क्षोभ नहीं, वैसे स्थितप्रज्ञ के चित्त में क्षोभ नहीं उठता। विष्णु के नामों में भी है 'अक्षोभ्य'। स्थितप्रज्ञ चित्त कभी क्षुब्ध नहीं होता। सागर कभी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता वैसे ही स्थितप्रज्ञ के भी अन्तर्बाह्य जीवनक्रम व कर्म में कभी सन्तुलन खण्डित नहीं होता। बड़े से बड़ी सुख–सामग्री या प्रतिष्ठा–यश-सम्मान मिलने पर हर्ष की उत्तेजना नहीं आती और वह कुछ भी न मिले बल्कि जो मिला हुआ हो वह भी छिन जाय, बाहरी दृष्टि से जीवनसाधनों का भी अभाव हो जाय, तब भी स्थितप्रज्ञ के मुख की स्मितरेखा नहीं बदलती। उसका चित्त आत्मतत्त्व में चिरस्थिर होने के कारण सदा परिपूर्ण रहता है; उसे किसी भी परिस्थिति में अभावबोध नहीं होता।

सूर्य के घर में जैसे दीपक से प्रकाश बढ़ता नहीं और दीपक न हो तो अंधेरा घिरता नहीं, ऐसे ही ऋद्धि–सिद्धियों के आने–जाने से स्थितप्रज्ञ मुनीश्वर की चित्तदशा में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आता, वह तो अपने अन्तरात्मा में नित्य ही महासुख में तल्लीन रहता है। ऋद्धि–सिद्धियों का कोई महत्त्व या परवाह उसे नहीं।

अपने आत्मभवन में नित्य–आवास पाये हुए जिन स्थितप्रज्ञ मुनि को अपने आवास के ऐश्वर्य के सामने इन्द्रभुवन भी नगण्य प्रतीत होता है, वह भला भीलों की घास–फूस की झोंपड़ी से क्या रंजित–हर्षित होगा! स्थितप्रज्ञ को आत्मानंद के सम्मुख ऋद्धि–सिद्धियों का वैभव भीलों की झोंपड़ी जैसा ही जान पड़ता है, अतः उसमें उन्हें रस नहीं रहता। जो परम सन्तुष्ट परितृप्त व्यक्ति अमृतरस से भरे कटोरे को भी 'नहीं चाहिये' कहकर ठेल देता हो, वह क्या मात की मांड पियेगा? वैसे ही स्वसुखानुभवी आत्मरत स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कभी भी ऋद्धि–सिद्धि का भोग नहीं करता।

[न अपने लिये उनका उपभोग करता है न दूसरों के लिये उनका उपयोग करके 'चमत्कार' की चकाचौंध पैदा करता है, उसके द्वारा अपना महत्व संसारी व्यक्तियों की दृष्टि में बढ़ाता नहीं। अपने शरीर को टिकाने तक के लिये भी वे आत्मशक्ति या सिद्धि का उपयोग नहीं करते। शरीर को समुचित आहारादि यथाप्राप्त देते हैं, सविशेष जतन नहीं करते। तुकाराम बड़ी शान से गाते हैं—

"मुक्ति तो हमारी परिणीता हुई, ऋद्धि–सिद्धि दासियाँ पानी भरें!
तुका कहे हम तो हैं विट्ठल के दास, पिण्ड में कर चुके ब्रह्माण्ड का ग्रास।।"
"विष्णुमय जगत् यह वैष्णवों का धर्म। भेदाभेद भ्रम सब मानें अमङ्गल।।"]

इसलिये हे पार्थ ! जहाँ स्वर्ग-सुख भी उल्लेखनीय नहीं रहते, नगण्य हो जाते हैं वहाँ ऋद्धि-सिद्धि जैसी प्राकृत वस्तुओं की क्या गिनती होगी ? आत्मानुभवी उन्हें क्या महत्त्व देगा ?
[श्लो. ७० ओवी ३५७—६४]

ऐसे आत्मबोध से जो सन्तुष्ट सन्तृप्त हो चुका, परमानन्द से हृष्ट-पुष्ट हुआ, वही वस्तुतः स्थितप्रज्ञ है यह पहचानो । [उनके चित्त में वासना-कामना-इच्छाओं का दाह नहीं रहता, अभावबोध की अग्नि से उनके तन-मन झुलसते नहीं, अतः परिपूर्ण स्वास्थ्य का तेज-ओज उनके प्रत्येक कर्म-वाणी-व्यवहार-हलन चलन में झलकता है । उनका चेहरा मुरझाया-कुम्हलाया, रूखा-सूखा, चिन्ताग्रस्त कभी नहीं दिखेगा ।...ज्ञानेश्वर महाराज सच्चे अध्यात्म की बात करते हैं। यहाँ काया का दण्डन नहीं, निग्रह-दमन आदि से आत्मपीड़न नहीं, 'लीलया' हँसते-खेलते संसार तरना है । यह मधुराद्वैत है । अध्यात्म जीना कोई संकट नहीं। अध्यात्मपथिक और आत्मानुभवी स्थितप्रज्ञ तो सविशेष हृष्ट पुष्ट-प्रसन्नवदन होगा। कभी अस्त न होने वाला आनन्द-तेज ही तो उसकी खास पहचान है ।]

उनके दिल-दिमाग (चित्त-बुद्धि) हमेशा तरो-ताजा रहते हैं क्योंकि वहाँ अहङ्कार शान्त हो चुका है। अहङ्कार को मानो देशनिकाला मिल गया है। उसने अहङ्कार को यही दण्ड दिया है कि "मेरी चेतना में प्रवेश न करना !" सभी कामनायें उसे छोड़ कर चली गयी हैं। ऐसे व्यक्ति ('व्यक्ति' न रह कर) मानो विश्व ही होकर पूरे विश्व में विचरण करते हैं। उनका अपना-निजी कुछ भी नहीं रहता। वैश्विक दर्शन है, वैश्विक चिन्तन है, वैश्विक व्यवहार है। ऐसा जो हो गया उसे ही स्थितप्रज्ञ समझना !
[श्लो. ७१ ओवी ३६५-६७]

यह जो ब्राह्मी स्थिति है यह निःसीम है, इसकी कोई चौखट या बना-बनाया ढाँचा व साँचा नहीं कि ब्राह्मी दशा में रहने वाले व्यक्ति की एक ही प्रकार की जीवनचर्या, दिनचर्या या अभिव्यक्ति होगी । ब्राह्मी दशा किसी भी प्रकार मे बँधती नहीं। बाहरी चर्या तो देह के प्रारब्ध पर निर्भर करती है, या विश्वविभुसत्ता वैश्विक प्रज्ञा को उनसे जो काम लेना होगा उसके अनुसार उस देह का विनियोग होगा। पर देहचर्या को उस स्थिति का लक्षण या अनुमापक नहीं मानना ।

वह स्थिति तो सीमातीत है। उस ब्राह्मी स्थिति में, निष्काम अवस्था में चित्त स्थिर हो जाने पर अनायास ही स्वयं परब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।"

"गोविन्द गोविन्द मना लागला रे छन्द !
मग गोविन्द हे काया ! भेद नाहीं आम्हा तया।"

['गोविन्द' का चस्का मन को लग गया । ...फिर तो यह काया ही गोविन्द हो गयी, हममें उसमें कोई भेद न रहा। —(तुकाराम)

"जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई" (तुलसी) उनकी चेतना ब्रह्ममयी हो जाती है। चिद्रूप में मिल चुके होने के कारण देहान्तलक्षण आने पर भी उनके चित्त में व्याकुलता नहीं होती।

[देह होते हुए भी उनकी दशा देहातीत रहती है, चित्त देह से मुक्त रहता है; उनके लिये जीते जी ही देहान्त (देहभाव का, देहतादात्म्य का अन्त) हो चुका होता है। क्योंकि अहङ्कार मिट गया। 'व्यक्ति' के नाते वे मर चुके हैं, केवल वैश्विक चेतना के प्रतीक के रूप में जी रहे हैं। 'अपना मरण महोत्सव वे अपनी आँखों देख चुके' होते हैं । देहभाव मिटना, आत्मभाव में स्थिर होना—यही पक्का देहान्त है।

"बीज भून कर कर दी लाई।
अब जन्म-मरण नहीं रे भाई !"

तुकाराम कहते हैं। "हम तो प्रभु के भक्त हैं, जीवित हैं या मृत हैं—यह पता नहीं।"

देहभाव छूटना ही नहीं, प्रत्यक्ष देह छूटना भी तो वास्तव में परमात्मसत्ता में लीन होने की-प्रभु मिलन की शुभघड़ी है। वह अमंगल क्यों ? वहाँ अहङ्कार बीच में आता है तो व्याकुल-व्याकुल बना कर रस-विरस कर देता है। यह अहंकार

का परदा ही तो चेतना को देह की तरफ खींच कर स्वरूपसत्ता से पृथक् रख रहा था। यह परदा हट जाय तो मृत्यु–पल में प्रभु से चिरमिलन हो जाय ! संसारी वह होने नहीं देते। पर जिस के मरण–क्षण में देहभाव आड़े न आया आत्मा परमात्मा के बीच खड़ा न हुआ–वह मानव स्थितप्रज्ञ के नाते ही गया समझना।

उस स्थिति में जाकर फिर लौटना नहीं होता। यह श्रीपति वासुदेव स्वमुख से अर्जुन से कह रहे हैं–ऐसा संजय धृतराष्ट्र को बता रहा है।

[इसके बाद ज्ञानेश्वर महाराज ने—अर्जुन के चित्त में स्थितप्रज्ञलक्षण व ब्राह्मीस्थिति का वर्णन सुन कर अपने पहले मन्तव्य के अनुकूल जो प्रतिक्रिया हुई उसे कहते हुए आगामी तृतीय अध्याय—'कर्मयोग' की प्रस्तावना आरम्भ कर दी है। स्थितप्रज्ञ की ब्राह्मीदशा कोई अकर्मण्यता–निष्क्रियता की अवस्था नहीं, बल्कि वस्तुतः योग रूप में कर्म किस प्रकार किये जाते हैं, किस अधिष्ठान पर सच्चा कर्मयोगी सम्पूर्ण–समग्र व्यवहार में उतरता है इसी की भूमिका बाँधी है।]

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्–
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ? ॥२१॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥
आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ? ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ?॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

— ॐ श्रीकृष्णज्ञानेश्वरार्पणमस्तु ॐ —

卐

प्रसाददान

अब विश्वात्मक देव ।
इस वाग्यज्ञ से हों सन्तुष्ट ।
तुष्ट हो कर प्रसाद दान ।
दें मुझे यही ।।१।।

खलों की कुटिलता छूटे ।
सत्कर्म में उन की रति बढ़े ।
भूतों में परस्पर प्रगटे ।
हार्दिक मैत्री ।।२।।

जाये दुरितों का तिमिर ।
स्वधर्म-सूर्य हो उदित ।
जो-जो चाहें वह करें प्राप्त ।
प्राणिजात ।।३।।

बरसे सकल मङ्गल ।
ईश्वरनिष्ठों का समुदाय ।
अनवरत भूमण्डल पर ।
यह देखें प्राणी ।।४।।

कल्पतरु के उद्यान सचल ।
चेतना-चिन्तामणि के ग्राम ।
जो मुखरित अर्णव ।
पीयूष के ।।५।।

चन्द्रमा जो अलाञ्छन ।
मार्तण्ड जो तापहीन ।
वे सब के प्रति सदा सज्जन ।
हों प्रिय सबके ।।६।।

किम्बहुना सर्व सुखों से ।
पूर्ण हों तीनों लोक ये ।
आदिपुरुष का भजन करें ।
अखण्डित ।।७।।